न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

माणिकचन्द-दिगम्बर-जैन-

ग्रन्थमाला ।

२६

श्रीमद्राजमल्लविरचिता

लाटी-संहिता ।

माणिकचन्द-दिगम्बर-जैनग्रन्थमालायाः
षड्विंशतितमो ग्रन्थः ।

ॐ

श्रीमद्राजमल्लविरचिता

लाटीसंहिता ।

साहित्यरत्न पण्डित दरबारीलाल न्यायतीर्थेण
सम्पादिता संशोधिता च ।

प्रकाशिका—
श्रीमाणिकचन्द-दिगम्बर-जैन
ग्रन्थमाला-समितिः

कार्तिक, वीर निर्वाण सं० २४५४ ।

वि० सं० १९८४.

प्रथमावृत्तिः] [मूल्यमाणकाष्टकम्

प्रकाशक
नाथूराम प्रेमी, मन्त्री,–
श्रीमाणिकचन्द–दिगम्बर–
जैनग्रन्थमालासमिति,
हीराबाग, पो० गिरगांव–बम्बई।

मुद्रक
विनायक बाळकृष्ण परांजपे,
नेटिव ओपिनियन प्रेस,
आंग्रेवाडी, गिरगांव–बम्बई।

सुप्रसिद्ध शास्त्रदानी,

जिनवाणीभक्त,

श्रीमान् लाला उम्मेदसिंह मुसद्दीलालजी

अमृतसरनिवासीकी

स्वर्गीया साध्वी धर्मपत्नीके

स्मरणार्थ।

ग्रन्थकर्त्ताका परिचय।

इस ग्रन्थके रचयिताके विषयमें इस ग्रन्थसे और इसकी प्रशस्तिसे बहुत कुछ परिचय मिल जाता है।

अनुमान है कि पंचाध्यायी भी इन्हींकी बनाई हुई है। इसके विषयमें प्रसिद्ध साहित्यसेवी पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने एक लेख 'वीर' नामक पत्रके वर्ष ३ अंक १२–१३ में प्रकाशित कराया है, उसको हम यहाँ उद्धृत कर देना आवश्यक समझते हैं।

"कवि राजमल्ल और पंचाध्यायी।

जैन ग्रन्थोंमें 'पञ्चाध्यायी' नामका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, आजसे २० वर्ष पहले प्रायः अप्रसिद्ध था—कोल्हापुर, अजमेर आदिके कुछ थोड़ेसे ही भंडारोंमें पाया जाता था और बहुत ही कम विद्वान् इससे परिचित थे। शक संवत् १८२८ (वि० सं० १९६३) में गांधी नाथारंगजीने इसे कोल्हापुरके 'जैनेन्द्र मुद्रणालय' में छपाकर प्रकाशित किया; तभीसे यह ग्रन्थ विद्वानोंके विशेष परिचयमें आया, विद्वद्वर्य पं० गोपालदासजीने इसे अपने शिष्योंको पढ़ाया, पं० मक्खनलाल-जीने इसपर भाषाटीका लिखी, और इस तरह पर समाजमें इसका प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ा। अपने नाम परसे—ग्रन्थके आदिमें मङ्गलपद्यमें प्रयुक्त हुए 'पंचाध्यायावयवं' इस विशेषण पद परसेभी—यह ग्रन्थ पांच अध्यायोंका समुदाय जान पड़ता है। परन्तु इसवक्त जितना उपलब्ध है उसे अधिकसे अधिक डेढ़ अध्यायके करीब कह सकते हैं, और यह भी हो सकता है कि वह एक अध्याय भी पूरा न हो। क्योंकि ग्रन्थमें अध्या-यविभागको लिये हुए कोई सन्धि नहीं है और न पांचों अध्यायोंके नामोंको ही कहीं पर सूचित किया है। शुरूमें 'द्रव्यसामान्यनिरूपण'

नामका एक प्रकरण प्रायः ७७० श्लोकोंमें समाप्त किया गया है, उसे यदि एक अध्याय माना जाय तो यह ग्रन्थ डेढ़ अध्यायके करीब है और यदि अध्यायका एक अंश (प्रकरण) माना जाय तो इसे एक अध्यायसे भी कम समझना चाहिये । बहुत करके वह प्रकरण अध्यायका एक अंश ही जान पड़ता है, दूसरा–द्रव्यविशेषनिरूपण नामका–अंश उसके आगे प्रारम्भ किया गया है जो, ११४५ श्लोकोंके करीब होनेपर भी अधूरा है । परन्तु वह आद्य प्रकरण एक अंश हो या पूरा अध्याय हो–कुछ भी सही–इसमें सन्देह नहीं कि प्रकृत ग्रन्थ अधूरा है–उसमें पांच अध्याय नहीं है–और इसका कारण ग्रन्थकारका उसे पूरा न कर सकना ही जान पड़ता है । मालूम होता है ग्रन्थकार महोदय इसे लिखते हुए अकालमें ही कालके गालमें चले गये हैं और इसीसे यह ग्रंथ अपनी वर्तमान स्थितिमें पाया जाता है–उसपर ग्रन्थकारका नाम तक भी उपलब्ध नहीं होता । अस्तु; जबसे यह ग्रन्थ प्रकट हुआ है तबसे जनता इस बातके जाननेके लिये बराबर उत्कंठित है कि यह ग्रन्थ कौनसे आचार्य अथवा विद्वान्का बनाया हुआ है और कब बना है । परन्तु विद्वान् लोग अभीतक इस विषयका कोई ठीक निर्णय नहीं कर सके और इसलिये जनता बराबर अँधेरेमें ही चली जाती है । ग्रन्थकी प्रौढता, युक्तिवादिता और विषय-प्रतिपादन-कुशलताको देखते हुए, कुछ विद्वानों-का इस विषयमें ऐसा खयाल रहा है कि यह ग्रन्थ शायद पुरुषार्थ-सिद्ध्युपायादि ग्रन्थोंके कर्त्ता श्रीअमृतचन्द्राचार्यका बनाया हुआ हो । पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने तो इसपर अपना पूरा विश्वास ही प्रकट कर दिया और पंचाध्यायी–भाषाटीका–की अपनी भूमिकामें लिख दिया कि “ पंचाध्यायीके कर्ता अनेकान्तप्रधानी आचार्यवर्य अमृतचन्द्र सूरि ही हैं । ” परन्तु वास्तवमें बात ऐसी नहीं है, और न अमृतचन्द्राचार्यको इस ग्रन्थका कर्ता माननेके लिये कोई युक्तियुक्त अथवा समर्थ कारण ही प्रतीत होता है । यह ग्रन्थ अमृतचन्द्राचार्यसे बहुत पीछेका–शताब्दियों बादका–बना हुआ है और इसके कर्ता, खोज करनेपर, ‘ कवि राजमल्ल ’

मालूम हुए हैं, जो कि एक बहुत बड़े प्रतिभाशाली विद्वान् थे और जिनके बनाये हुए 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' तथा 'लाटी संहिता' (श्रावकाचार) नामके दो उत्तम ग्रन्थ और भी उपलब्ध होते हैं। आज इसी विषयको स्पष्ट करने और अपनी खोजको पाठकोंके सामने रखनेका प्रयत्न किया जाता है:—

सबसे पहिले मैं अपने पाठकोंको यह बतला देना चाहता हूं कि पंचाध्यायीमें, सम्यक्त्वके प्रशम संवेगादि चार गुणोंका कथन करते हुए, नीचे लिखी एक गाथा ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत पाई जाती है:—

संवेओ णिव्वेओ णिंदण गरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा, अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते॥

यह गाथा, जिसमें सम्यक्त्वके संवेगादिक अष्टगुणोंका उल्लेख है, वसुनन्दिश्रावकाचारके सम्यक्त्व प्रकरणकी गाथा है—वहां मूलरूपसे नं० ४९ पर दर्ज है—और इस श्रावकाचारके कर्त्ता वसुनन्दी आचार्य विक्रम की १२ वीं शताब्दीके अन्तिम भागमें हुए हैं। ऐसी हालतमें यह स्पष्ट है कि पंचाध्यायी विक्रमकी १२ वीं शताब्दीसे बादकी बनी हुई है और इसलिये वह उन अमृतचन्द्राचार्यकी कृति नहीं हो सकती जोकि वसुनन्दीसे बहुत पहले हो गये हैं। अमृतचन्द्राचार्यके 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' ग्रन्थका तो 'येनांशेन सुदृष्टिः' नामका एक पद्य भी इस ग्रन्थमें उद्धृत है, जिसे ग्रन्थकारने अपने कथनकी प्रमाणतामें 'उक्तं च' रूपसे दिया है और इससे भी यह बात और ज्यादा पुष्ट होती है कि प्रकृत ग्रन्थ अमृतचन्द्राचार्यका बनाया हुआ नहीं है।

यहां पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना उचित समझता हूं कि पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने अपनी भाषाटीकामें उक्त गाथाको 'क्षेपक' बतलाया है और उसके लिये कोई हेतु या प्रमाण नहीं दिया, सिर्फ फुटनोटमें इतना ही लिख दिया है कि "यह गाथा पंचाध्यायीमें क्षेपक रूपसे आई है"। इस फुट नोटको देखकर बड़ा ही खेद होता है और समझमें नहीं आता कि उनके इस लिखनेका क्या रहस्य है!! यह गाथा पंचाध्यायीमें

किसी तरह पर भी क्षेपक—बादको मिलाई हुई—नहीं हो सकती, क्योंकि ग्रन्थकारने अगले ही पद्यमें उसके उद्धरणको स्वयं स्वीकार तथा घोषित किया है और वह पद्य इस प्रकार है:—

> उक्तगाथार्थसूत्रेऽपि प्रशमादिचतुष्टयम् ।
> नातिरिक्तं यतोऽस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥ ४६७ ॥

इस पद्यपरसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि ग्रन्थकारने उक्त गाथाको उद्धृत करके उसे अपने ग्रन्थका एक अंग बनाया है और उसके विषयका स्पष्टीकरण करने अथवा अपने कथनके साथ उसके कथनका सामंजस्य स्थापित करनेका यहींसे उपक्रम किया है—अगले कई पद्योंमें इसी विषयकी चर्चा कीगई है—फिर उक्त गाथाको क्षेपक कैसे कहा जा सकता है? अस्तु यह तो हुआ अमृतचन्द्राचार्यके द्वारा प्रकृत ग्रन्थके न रचे जाने आदि विषयक सामान्य विचार, अब ग्रन्थके वास्तविक कर्ता और उसके निर्माणसमयसम्बन्धी विशेष विचारको लीजिये।

ऊपर यह जाहिर किया जा चुका है कि 'लाटीसंहिता' नामका भी एक ग्रंथ है। यह संस्कृत भाषामें श्रावकाचार-विषयका एक सप्तसर्गात्मक ग्रन्थ है और इसकी पद्यसंख्या १६०० के करीब है। इस ग्रन्थके साथ जब पंचाध्यायीकी तुलनात्मक दृष्टिसे आन्तरिक जाँच की जाती है तो यह मालूम होता है कि ये दोनों ग्रन्थ एक ही विद्वान्‌की रचना हैं। दोनोंकी कथनशैली, लेखन-प्रणाली अथवा रचना-पद्धति एक जैसी है; ऊहापोहका ढंग, पदविन्यास और साहित्य भी दोनोंका समान है; पंचाध्यायीमें जिस प्रकार किंच, ननु, अथ, अपि, अर्थात्, अयमर्थः, अयंभावः, एवं, नैवं, मैवं, नोह्यं, न चाशङ्क्यं, चेत्, नो चेत्, यतः, ततः, अत्र, तत्र, तद्यथा, इत्यादि शब्दोंके प्रचुर प्रयोगके साथ विषयका प्रतिपादन किया गया है, उसी तरह वह लाटीसंहितामें भी पाया जाता है। संक्षेपमें, दोनों ग्रन्थ एक ही लेखनी, एक ही टाइप और एक ही टकसालके जान पड़ते हैं। इसके सिवाय, दोनों ग्रन्थोंमें सैकड़ों पद्य भी प्रायः एक ही पाये जाते हैं और उनका खुलासा इस प्रकार है:—

(क) लाटीसंहिताके तीसरे सर्गमें, सम्यग्दृष्टिके स्वरूपका निरूपण करते हुए, 'ननूल्लेखः किमेतावान्' इत्यादि पद्य नं० ३४(मुद्रितमें २७)से 'तद्यथा सुखदुःखादि' इस पद्य नं० ६०(मुद्रितमें५४)तक जो२७पद्य दिये हैं वे वे ही हैं जो पंचाध्यायी टीकाके उत्तरार्धमें नं० ३७१ से ३९९ तक और मूल प्रतिमें नं०३७४से४०१तक दर्ज हैं। इसी तरह ६१(मुद्रितमें५५)वें नम्बरसे १२६ मुद्रितमें ११६वें नं० तकके ६६ पद्य भी प्रायः वे ही हैं जो सटीक प्रतिमें नं०४१० से ४७६ तक और मूल प्रतिमें ४१२ से ४७९ तक पाये जाते हैं। हाँ, 'अथानुरागशब्दस्य' नामका पद्य नं० ४३५ (४३७) पंचाध्यायीमें अधिक है। हो सकता है कि वह लेखकोंसे छूट गया हो, लाटीसंहिताके निर्माण-समय उसकी रचना ही न हुई हो या ग्रन्थकारने उसे लाटीसंहितामें देनेकी जरूरत ही न समझी हो। इनके सिवाय, इसी सर्गमें, नं० १६१ मुद्रितमें १५२ से १८२ मुद्रितमें १०३ तकके २२ पद्य और भी हैं जो पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) के ७२१ (७२५) से ७४२ (७४६) नम्बर तकके पद्योंके साथ एकता रखते हैं।

(ख) लाटीसंहिताका चौथा सर्ग, जो आशीर्वादके बाद 'ननु सुदर्शनस्यैतत्' पद्यसे प्रारम्भ होकर 'उक्तः प्रभावनांगोऽपि' पद्यपर समाप्त होता है, ३२३ पद्योंके करीबका है। इनमेंसे नीचे लिखे दो पद्योंको छोडकर शेष सभी पद्य पंचाध्यायीके उत्तरार्धमें नं० ४७७ (४८०) से ७२० (७२४) और ७४३ (७४७) से=२१ (=२५) तक प्रायः ज्योंके त्यों पाये जाते हैं:—

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥ २६८॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तुरागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥ २६९॥

ये दोनों पद्य 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' ग्रन्थके पद्य हैं और 'येनांशेन सुदृष्टिः' नामके उस पद्यके बाद 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत किये गये हैं

जो पंचाध्यायीमें भी नं० ७७४ (७७८) पर उद्धृत हैं। मालूम होता है ये दोनों पद्य पंचाध्यायीकी प्रतियोंमें छूट गये हैं। अन्यथा प्रकरणको देखते हुए इनका भी साथमें उद्धृत किया जाना उचित था। इसी तरह पंचाध्यायीमें भी 'यथा प्रज्वलितो वह्निः' और 'यतः सिद्धं प्रमाणाद्वै' ये दो पद्य (नं० ५२८, ५५७), इन पद्योंके सिलसिलेमें, बढ़े हुए हैं। सम्भव है कि वे लाटीसंहिताकी प्रतियोंमें छूट गये हों।

इस तरह पर ४३८ पद्य दोनों ग्रन्थोंमें समान हैं—अथवा यों कहना चाहिये कि लाटीसंहिताका एक चौथाईसे भी अधिक भाग पंचाध्यायीके साथ एक-वाक्यता रखता है। ये सब पद्य दूसरे पद्योंके मध्यमें जिस स्थितिको लिये हुए हैं उस परसे यह नहीं कहा जा सकता कि वे 'क्षेपक' हैं या एक ग्रन्थकारने दूसरे ग्रन्थकारकी कृति परसे उन्हें चुराकर या उठाकर और अपने बनाकर रक्खा है। लाटीसंहिताके कर्ताने तो अपनी रचनाको 'अनुच्छिष्ट' और 'नवीन' सूचित भी किया है[1] और उससे यह पाया जाता है कि लाटीसंहितामें थोडेसे 'उक्तं च' पद्योंको छोडकर शेष पद्य किसी दूसरे ग्रन्थकारकी कृति परसे नकल नहीं किये गये हैं। ऐसी हालतमें पद्योंकी यह समानता भी दोनों ग्रन्थोंके एक-कर्तृत्वको घोषित करती है। साथ ही लाटीसंहिताके निर्माणकी प्रथमताको भी कुछ बतलाती है।

इन समान पद्योंमेंसे कोई कोई पद्य कहीं पर कुछ पाठभेदको भी लिये हुए हैं और उससे अधिकांशमें लेखकोंकी लीलाका अनुभव होनेके साथ

---

१ यथाः—

सत्यं धर्मरसायनो यदि तदा मां शिक्षयोपक्रमात्।
सारोद्धारमिवाप्यनुग्रहतया स्वल्पाक्षरं सारवत्॥
आर्षं चापि मृदुक्तिभिः स्फुटमनुच्छिष्टं 'नवीनं' मह—
न्निर्माणं परिधेहि संघ नृपतिर्भूयोप्यवादीदिति ॥ ७९ ॥
श्रुत्वेत्यादिवचः शतं मृदुरुचिर्निर्दिष्टनामा कविः।
नेतुं यावदमोघतामभिमतं सोपक्रामयोद्यतः॥

साथ पंचाध्यायीके कितनेही पद्योंका संशोधन भी हो जाता है, जिनकी अशुद्धियोंको तीन प्रतियों परसे सुधारनेका यत्न करनेपर भी पं० मक्खनलालजी सुधार नहीं सके और इसलिये उन्हें गलतरूपमेंही उनकी टीका प्रस्तुत करनी पड़ी। इन पद्योंमेंसे कुछ पद्य नमूनेके तौरपर लाटीसंहितामें दिये हुए पाठभेदको कोष्टकमें दिखलाते हुए नीचे दिये जाते हैं—

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः।
नात्राणमंशतोप्यत्र कुतस्तद्धिम (द्धीमं) हात्मनः॥ ५३५॥
मार्गो (र्गं) मोक्षस्य चारित्रं तत्सद्भक्ति (सद्दग्ज्ञप्ति) पुरःसरम्।
साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः॥ ६६७॥
मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपंचकः।
नामतः श्रावकः क्षान्तो (ख्यातो) नान्यथापि तथा गृही॥ ७२६॥
शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादि पीडितेभ्योऽशुभोदयात्।
दीनेभ्यो दया (ऽभय) दानादि दातव्यं करुणार्णवैः॥ ७३१॥
नित्ये नैमित्तिके चैवं (त्य) जिनबिम्बमहोत्सवे।
शैथिल्यं नैव कर्तव्यं तत्वज्ञैरतद्विशेषतः॥ ७३६॥
अथातद्धर्मणः पक्षे (अर्थान्नाधीर्मणः पक्षो) नावद्यस्य मनागपि।
धर्मपक्षक्षतिर्यस्मादधर्मोत्कर्ष पोष (रोप) णात्॥ ८१४॥

इन पद्यों परसे विज्ञ पाठक सहज ही में पंचाध्यायीके प्रचलित अथवा मुद्रित पाठकी अशुद्धियोंका कुछ अनुभव कर सकते हैं और साथ ही टीकाको देखकर यह भी मालूम कर सकते हैं कि इन अशुद्ध पाठोंकी वजहसे उसमें क्या कुछ गड़बड़ी हुई है।

किसी किसी पद्यका पाठभेद स्वयं ग्रन्थकर्ताका किया हुआ भी जान पड़ता है, जिसका एक नमूना इस प्रकार है:—

उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि प्रसंगाद् गुरु लक्षणम्।
शेषं विशेषतो वक्ष्ये (ज्ञेयं) तत्स्वरूपं जिनागमात्॥ ७१४॥

यहां 'वक्ष्ये' की जगह 'ज्ञेयं' पदका प्रयोग लाटीसंहिताके अनुकूल जान पड़ता है; क्योंकि लाटीसंहितामें इसके बाद गुरुका कोई

विशेष स्वरूप नहीं बतलाया गया जिनके कथनकी 'वक्ष्ये' पदके द्वारा पंचाध्यायीमें प्रतिज्ञा की गई है, और न इस पदमें किसी हृदयस्थ या करस्थ दूसरे ग्रन्थका नाम ही लिया है जिसके साथ उस स्वरूप कथनकी प्रतिज्ञा-शृंखलाको जोड़ा जा सकता। ऐसी हालतमें यहाँ प्रत्येक ग्रन्थका अपना पाठ उसके अनुकूल है और उसे ग्रन्थकर्ताकी ही कृति समझना चाहिये।

यहां नमूनेके तौर पर लाटीसंहिताके कुछ ऐसे पद्य भी उचित जानकर उद्धृत किए जाते हैं जो पञ्चाध्यायीमें नहीं हैं:—

ननु या प्रतिमा प्रोक्ता दर्शनाख्या तदादिमा।
जैनानां सास्ति सर्वेषामर्थादव्रतिनामपि॥ १४४॥
मैवं सति तथा तुर्यगुणस्थानस्य शून्यता।
नूनं दृक्प्रतिमा यस्माद् गुणे पंचमके मता॥ १४५॥

तृतीयसर्गः।

ननु व्रतप्रतिमायामेतत्सामायिकं व्रतं।
तदेवात्र तृतीयायां प्रतिमायां तु किं पुनः॥ ४॥
सत्यं किंतु विशेषोऽस्ति प्रसिद्धः परमागमे।
सातिचारं तु तत्रस्यादत्रातीचारवर्जितं॥ ५॥
किं च तत्र त्रिकालस्य नियमो नास्ति देहिनां।
अत्र त्रिकालनियमो मुनेर्मूलगुणादिवत्॥ ६॥
तत्र हेतुवशात्क्वापि कुर्यात्कुर्यान्न वा क्वचित्।
सातिचारव्रतत्वाद्वा तथापि न व्रतक्षतिः॥ ७॥
अत्रावश्यं त्रिकालेऽपि कार्यं सामायिकं च यत्।
अन्यथा व्रतहानिः स्यादतीचारस्य का कथा॥ ८॥
अन्यत्राप्येवमित्यादि यावदेकादश स्थितिः।
व्रतान्येव विशिष्यन्ते नार्थादर्थांतरं क्वचित्॥ ९॥

शोभतेऽतीव संस्कारात्साक्षादाकरजो मणिः ।
संस्कृतानि व्रतान्येव निर्जराहेतवस्तथा ॥ १० ॥

सप्तमसर्ग ।

सारी लाटीसंहिता इसी प्रकारके ऊहापोहात्मक पद्योंसे भरी हुई है। यहां विस्तारभयसे सिर्फ थोड़े ही पद्य उद्धृत किए गये हैं; इन पद्योंपरसे विज्ञ पाठक लाटी संहिताकी कथनशैली और उसके साहित्य आदिका अच्छा अनुभव प्राप्त करनेके लिये बहुत कुछ समर्थ हो सकते हैं; और पञ्चाध्यायीके साथ तुलना करनेपर उन्हें यह मालूम हो सकता है कि दोनों ग्रन्थ एक ही लेखनीसे निकले हुए हैं और उनका टाइप भी एक है।

पञ्चाध्यायीके शुरूमें मंगलाचरण और ग्रन्थ करनेकी प्रतिज्ञारूपसे जो चार पद्य दिये हैं वे इस प्रकार हैं:—

पंचाध्यायावयवं मम कर्तुर्ग्रन्थराजमात्मवशात् ।
अर्थालोकनिदानं यस्य वचस्तं स्तुवे महावीरम् ॥ १ ॥
शेषानपि तीर्थकराननन्तासिद्धानहं नमामि समम् ।
धर्माचार्याध्यापकसाधुविशिष्टान्मुनीश्वरान्वन्दे ॥ २ ॥
जीयाज्जैनं शासनमनादिनिधनं सुवन्द्यमनवद्यम् ।
यदपि च कुमतारातीनदयं धूमध्वजोपमं दहति ॥ ३ ॥
इति वन्दितपञ्चगुरुः कृतमङ्गलसत्क्रियः स एष पुनः ।
नाम्ना पञ्चाध्यायीं प्रतिजानीते चिकीर्षितं शास्त्रम् ॥४॥

इन पद्योंमें क्रमशः महावीर तीर्थंकर, शेष तीर्थंकर, अनन्तासिद्ध और आचार्य, उपाध्याय तथा साधुपदसे विशिष्ट मुनीश्वरोंकी वन्दना करके जैन शासनका जयघोष किया गया है। और फिर अपनी इस वन्दना क्रियाको 'मङ्गलसत्क्रिया' बतलाते हुए ग्रन्थका नामोल्लेख पूर्वक उसके रचनेकी प्रतिज्ञा की गई है। ये ही सब बातें इसी क्रम तथा आशयको लिए हुए, शब्दों अथवा विशेषणादि पदोंके कुछ हेर फेर या कमीबेशीके साथ लाटीसंहिताके शुरूमें भी पाई जाती हैं। यथा—

ज्ञानानन्दात्मानं नमामि तीर्थंकरं महावीरम् ।
यश्चिति विश्वमशेषं व्यदीपि नक्षत्रमेकमिव नभसि ॥ १ ॥
नमामि शेषानपि तीर्थनायकाननन्तबोधादिचतुष्टयात्मनः ।
स्मृतं यदीयं किल नाम भेषजं भवेद्धि विघ्नौघगदोपशान्तये ॥ २ ॥
प्रदुष्टकर्माष्टकविप्रमुक्तकांस्तदत्यये चाष्टगुणान्वितानिह ।
समाश्रये सिद्धगणानपि स्फुटं सिद्धेः पथस्तत्पदमिच्छतां नृणां ॥३॥
त्रयीं नमस्यां जिनलिंगधारिणां सतां मुनीनामुभयोपयोगिनां ।
पदत्रयं धारयतां विशेषसात्पदं मुनेरद्धितयादिहार्थतः ॥ ४ ॥
जयन्ति जैनाः कवयश्च तद्गिरः प्रवर्तिता यैर्वृषमार्गदेशना ।
विनिर्जितं जाड्यमिहासुधारिणां तमस्तमोरेरिवरश्मिभिर्महत् ॥५॥
इतीव सन्मङ्गलसत्क्रियां दधन्नधीयमानोन्वयसात्परंपराम् ।
उपज्ञलाटीमिति संहितां कविश्चिकीर्षति श्रावकसद्व्रतस्थितिम् ॥६॥

इस मङ्गलपद्योंको पञ्चाध्यायीके उक्त मङ्गलपद्योंके साथ, मूल प्रतिपाद्य विषयकी दृष्टिसे कितनी अधिक समानता है इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं । दोनों ग्रन्थोंके मङ्गलाचरणोंके स्तुतिपात्र ही एक नहीं बल्कि उनका क्रम भी एक है । साथ ही, 'महावीर', 'शेषानपि तीर्थकरान्', 'शेषानपि तीर्थनायकान्', 'अनन्तसिद्धान्', 'सिद्धगणान्', 'जीयात्'—'जयंति', 'इति', 'कृतमङ्गलसत्क्रियः'—'सन्मङ्गलसत्क्रियां दधन्', 'चिकीर्षितं', 'चिकीर्षाति', ये पद भी उक्त समानताको और ज्यादा समुद्योतित कर रहे हैं । इसी तरह पञ्चाध्यायीका 'आत्मवशात्' रचा जाना और लाटी संहिताका 'उपज्ञा' (स्वोपज्ञा) होना भी दोनों एक ही आशयको सूचित करते हैं । अस्तु; मङ्गल पद्योंकी इस स्थितिसे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि दोनों ग्रन्थ एक ही विद्वानके रचे हुए हैं ।

इसके सिवाय, पञ्चाध्यायीमें ग्रन्थकारने अपनेको 'कवि' नामसे उल्लेखित किया है, अर्थात् 'कवि' लिखा है । यथाः—

अत्रान्तरंगहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः ।
हेतोस्तथापि हेतुः साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिः ॥ ५ ॥
तत्राधिजीवमाख्यानं विदधाति यथाधुना ।
कविः पूर्वापरायत्त पर्यालोचविचक्षणः ॥ उ०, १६० ॥
उक्तो धर्मस्वरूपोपि प्रसङ्गात्संगतोंशतः ।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥ ७७५ ॥

लाटीसंहितामें भी ग्रन्थकार अपनेको 'कवि' नामसे नामाङ्कित करते और 'कवि' लिखते हैं । जैसा कि ऊपर उद्धृत किए हुए पद्य नं० ६ नं० ७७५ (यह पद्य लाटीसंहिताके चतुर्थ सर्गमें नं० २७० पर दर्ज हैं) और नीचे लिखे पद्योंपरसे प्रकट है:—

......,तत्रस्थितः किल करोति कविः कवित्वं ।
तद्वर्द्धतां मयि गुणं जिनशासनं च ॥ १-८६ ॥ मु० ८७ ॥
प्रोक्तं सूत्रानुसारेण यथाणुव्रतपञ्चकं ।
गुणव्रतत्रयं वक्तुमुत्सहेदधुना कविः ॥ ६-११७ ॥मु०१०९॥

इसी तरह और भी कितने ही स्थानोंपर आपका 'कवि' नामसे उल्लेख पाया जाता है, कहीं कहीं असली नामके साथ कवि-विशेषण जुड़ा हुआ भी मिलता है यथा, 'सानन्दमास्ते कविराजमल्लः' (५६)—और इन सब उल्लेखोंसे यह जाना जाता है कि लाटीसंहिताके कर्ताकी कवि रूपसे बहुत प्रसिद्धि थी, 'कवि' उनका उपनाम अथवा पदविशेष था और वे अकेले (एकमात्र) उसीके उल्लेख द्वारा भी अपना नामोल्लेख किया करते थे । इसीसे पञ्चाध्यायीमें जो अभी पूरी नहीं हो पाई थी, अकेले 'कवि' नामसे ही आपका नामोल्लेख मिलता है । नामकी इस समानतासे भी दोनों ग्रन्थ एक ही कविकी दो कृतियां मालूम होते हैं ।

इसमें सन्देह नहीं कि कविराजमल्ल एक बड़े विद्वान् और सत्कवि हो गये हैं । कविके लिये जो यह कहा गया है कि 'वह नये नये संदर्भ,

१ कविर्नूतनसंदर्भः ।

नई नई मौलिक रचनाएँ—तय्यार करनेमें समर्थ होना चाहिये' वह बात उनमें जरूर थी और ये दोनों ग्रन्थ उसके ज्वलंत उदाहरण जान पड़ते हैं। इन ग्रन्थोंकी लेखनप्रणाली और कथनशैली अपने ढंगकी एक ही है। लाटीसंहिताकी सन्धियोंमें[२] राजमल्लको 'स्याद्वादानवद्य—पद्य—गद्य—विद्या—विशारद—विद्वन्मणि' लिखा है और ये दोनों कृतियाँ उनके इस विशेषणके बहुत कुछ अनुकूल जान पड़ती हैं। लाटीसंहिताको देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि पंचाध्यायी उसके कर्त्तासे भिन्न किसी और ऊँचे दर्जेके विद्वानकी रचना है। अस्तु।

मैं समझता हूं, ऊपरके इन सब उल्लेखों प्रमाणों अथवा कथनसमुच्चय परसे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि पंचाध्यायी और लाटी-संहिता दोनों एकही विद्वानकी दो विशिष्ट रचनाएँ हैं, जिनमेंसे एक पूरी और दूसरी अधूरी है। पूरी रचना लाटीसंहिता है और उसमें उसके कर्ताका नाम बहुत स्पष्टरूपसे 'कविराजमल्ल' दिया है। इसलिये पंचाध्यायीको भी 'कविराजमल्ल' की कृति समझना चाहिये, और यह बात बिलकुल ही सुनिश्चित जान पड़ती है।

लाटीसंहिताको कविराजमल्लने वि० सं० १६४१ में आश्विन शुक्ल दशमी रविवारके दिन बनाकर समाप्त किया है। जैसा कि उसकी प्रशस्तिके निम्नपद्योंसे प्रकट है:—

श्रीनृपतिविक्रमादित्यराज्ये परिणते सति।
सहैकचत्वारिंशद्भिरब्दानां शतषोडश॥ २॥
तत्राप्यश्विनीमासे सितपक्षे शुभान्विते।
दशम्यां दाशरथेः (श्च) शोभने रविवासरे॥ ३॥

---

२ एक सन्धि नमूनेके तौर पर इस प्रकार है:—इति श्रीस्याद्वादानवद्यपद्य विद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्लविरचितायां श्रावकाचारापरनाम लाटीसंहितायां साधुदूदात्मजफामनमनःसरोजारविंदविकाशनैकमार्तण्डमण्डलायमानायां कथामुख वर्णनं नाम प्रथमः सर्गः।

पञ्चाध्यायीभी इसी समयके करीबकी—विक्रमकी १७ वीं शताब्दीके मध्यकालकी—लिखी हुई है । उसका प्रारंभ या तो लाटीसंहितासे कुछ पहले हो गया था और उसे बीचमें रोक लाटीसंहिता लिखी गई है और या लाटीसंहिताको लिखनेके बाद ही, सत्सहायको पाकर, कविके हृदयमें उसके रचनेका भाव उत्पन्न हुआ है—अर्थात् यह विचार पैदा हुआ कि उसे अब इसी टाइप अथवा शैलीका एक ऐसा ग्रन्थराज भी लिखना चाहिये जिसमें यथाशक्ति और यथावश्यक्ता जैनधर्मका प्रायः सारा सार खींचकर रख दिया जाय । उसीके परिणामस्वरूप पंचाध्यायीका प्रारम्भ हुआ जान पड़ता है और उसे 'ग्रन्थराज' यह उपनामभी ग्रन्थके आदिमें मंगलाचरणमें ही दे दिया गया है । परन्तु पंचाध्यायीका प्रारम्भ पहले माननेकी हालतमें यह मानना कुछ आपत्तिजनक जरूर मालूम होता है कि, उसमें उन सभी पद्योंकी रचना भी पहलेहीसे चुकी थी जो लाटीसंहितामें भी समानरूपसे पाये जाते हैं और इसलिये उन्हें पंचाध्यायी परसे उठाकर लाटीसंहितामें रक्खा गया है । क्योंकि इसके विरुद्ध पंचाध्यायीमें एक पद्य निम्नप्रकारसे उपलब्ध होता है:—

ननु तद्द (सुद) र्शनस्यैतल्लक्षणं स्यादशेषतः ।
किमथास्त्यपरं किंचिल्लक्षणं तद्वदाद्य नः ॥ ४७७ ॥

यह पद्य लाटीसंहितामें भी चतुर्थसर्गके शुरूमें कोष्टकोल्लेखित पाठ भेदके साथ पाया जाता है । इसमें 'तद्वदाद्य नः' इस वाक्यखण्डके द्वारा यह पूछा गया है तो 'उसे आज हमें बतलाइये' । इस प्रश्नमें 'आज हमें बतलाइये' (वद अद्य नः) इन शब्दोंका पंचाध्यायीके साथ कोई सम्बन्ध स्थिर नहीं होता—यही मालूम नहीं होता कि यहाँ 'नः' (हमें) शब्दका वाच्य कौनसा व्यक्ति विशेष है; क्योंकि पंचाध्यायी किसी व्यक्तिविशेषके प्रश्न अथवा प्रार्थना पर नहीं लिखी गई है । प्रत्युत इसके, लाटीसंहितामें उक्त शब्दोंका सम्बन्ध सुस्पष्ट है । लाटीसंहिता अग्रवालवंशावतंस मंगलगोत्री साहु दूदाके पुत्र संघाधिपति 'फामन' नामके एक धनिक विद्वान्के लिये, उसके प्रश्न तथा प्रार्थना पर लिखी

गई है, जिसका स्पष्ट उल्लेख संहिताके 'कथामुखवर्णन' नामके प्रथम सर्गमें पाया जाता है । फामनको संहितामें जगह जगह आशीर्वाद भी दिया गया है । उक्त पदसे ठीक पहले भी, चतुर्थसर्गका प्रारम्भ करते हुए आशीर्वादका एक पद पाया जाता है और वह इस प्रकार है:—

इदमिदं तव भो वनिजांपते भवतु भावितभान सुदर्शनं ।
विदितफामननाममहामते रसिकधर्मकथासु यथार्थतः ॥ १ ॥

इससे साफ जाना जाता है कि इस पद्यमें जिस व्यक्ति विशेषके सम्बोधन करके आशीर्वाद दिया गया है वही अगले पदका प्रश्नकर्ता और उसमें प्रयुक्त हुए 'नः' पदका वाच्य है । लाटी संहितामें प्रश्नकर्ता फामनके लिये 'नः' पदका प्रयोग किया गया है, यह बात नीचे लिखे पद्यसे और भी स्पष्ट हो जाती है:—

सामान्यादवगम्य धर्मं फलितं ज्ञातुं विशेषादपि ।
भक्त्या यस्तमपीपृछद् वृषरुचिर्नाम्नाधुना फामनः ॥
धर्मत्वं किमथास्य हेतुरथ किं साक्षात्फलं तत्वतः ।
स्वामिन्त्वं किमथेति सूरिरवदत्सर्वं प्रणन्नः कविः॥७७॥मु०७८॥

ऐसी हालतमें नहीं कहा जा सकता कि उक्त पद्य नं० ४७७ पंचाध्यायीसे उठाकर लाटीसंहितामें रक्खा गया है बल्कि लाटीसंहितासे उठाकर वह पंचाध्यायीमें रक्खा हुआ जानपड़ता है । साथ ही, यह भी मालूम होता है कि उक्त पद्यके उस वाक्य-खण्डमें समुचित परिवर्तनका होना या तो छूट गया और या ग्रंथके अभी निर्माणाधीन होनेके कारण उस वक्त उसकी जरूरत ही नहीं समझी गई और इसलिये पंचाध्यायी का प्रारंभ यदि पहले हुआ हो तो यह कहना चाहिये कि उसकी रचना प्रायः उसी हद तक हो पाई थी जहाँसे आगे लाटीसंहितामें पाये जाने वाले समान पद्योंका उसमें प्रारंभ होता है । अन्यथा, लाटीसंहिताके कथनसंबंधादिको देखते हुए, यह मानना ही ज्यादा अच्छा और अधिक संभावित जान पड़ता है कि पंचाध्यायीका लिखा जाना

लाटीसंहिताके बाद प्रारंभ हुआ है । परंतु पंचाध्यायीका प्रारंभ पहले हुआ हो या पीछे, इसमें संदेह नहीं कि वह लाटीसंहिताके बाद प्रकाशमें आई है और उस वक्त जनता के सामने रक्खी गई है जब कि कविमहोदयकी इहलोकयात्रा प्रायः समाप्त हो चुकी थी । यही वजह है कि उसमें किसी सन्धि, अध्याय, प्रकरणादिक या ग्रंथकर्ताके नामादिक की कोई योजना नहीं होसकी और वह निर्माणाधीन स्थितिमें ही जनताको उपलब्ध हुई है । मालूम नहीं ग्रंथकर्ता महोदय इसमें और किन किन विषयोंका किस हद तक समावेश करना चाहते थे और उन्होंने अपने इस ग्रंथराजके पाँच महाविभागों-अध्यायों—के क्या नाम सोचे—थे । निसंदेह ऐसे ग्रंथरत्नका पूरा न हो सकना समाजका बड़ा ही दुर्भाग्य है ।

कवि राजमल्लने लाटीसंहिताकी रचना 'वैराट' नगरके जिनालयमें बैठकर की है । यह वैराट नगर वही जान पडता है जिसे 'वैराट' भी कहते है और जो जयपुरसे करीब ४० मीलके फासले पर है । किसी समय यह विराट अथवा मत्स्यदेशकी राजधानी थी और यहीं पर पांडवोंका गुप्त वेशमें रहना कहा जाता है । 'भीमकी डूँगरी' आदि कुछ स्थानोंको लोग अब भी उसी वक्त के बतलाते हैं[१] । लाटीसंहितामें कविने इस नगरकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हुए, अपने समयका कितना ही वर्णन दिया है और उससे मालूम होता है कि यह नगर उस समय बड़ा ही समृद्धशाली था। यहां कोई दरिद्री नजर नहीं आता था, प्रजामें परस्पर असूया अथवा ईर्षाद्वेषादिके वशवर्ती होकर छिद्रान्वेषणका भाव नहीं था, वह परचक्रके भयसे रहित थी, सबलोग खुशहाल तथा धर्मात्मा थे, चोरी वगैरहके अपराध नहीं होते थे और इससे नगरके लोग दंडका नाम भी नहीं जानते थे । अकबर बादशाहका उस समय राज्य

---

१ लाटीसंहितामें भी पांडवोंके इन परंपरागत चिन्होंके अस्तित्वको सूचित किया है । यथा—

...क्रीडाद्रि श्रृंगेषुच पांडवानामद्यापि चाश्चर्यपरंपरांकाः ।
या काश्चदालोक्य बलावालिप्तादर्पं विमुंचन्ति महाबला अपि ॥ ४७ ॥

था और वही इस नगरका स्वामी तथा भोक्ता था[1]। नगर कोटखाईसे युक्त और उसकी पर्वतमालामें कितनी ही ताँबे की खानें थीं जिनसे उस वक्त ताँबा निकाला जाता था और उसे गलागलूकर निकालनेका एक बड़ा भारी कारखाना भी कोटके बाहर, पासमें ही, दक्षिण दिशाकी और स्थित था[2]। नगरमें ऊँचे स्थान पर एक सुंदर प्रोत्तुंग जिनालय—दिगंबर जैन मंदिर-था, जिसमें यज्ञस्थंभ और समृद्ध कोष्ठों (कोठों) को लिये हुए चार शालाएँ थीं, उनके मध्यमें वेदी और वेदीके ऊपर उत्तम शिखर था। कविने इस जिनालयको वैराट नगरके सिरका मुकुट बतलाया है। साथही, यह सूचित किया है कि वह नाना प्रकारकी रंगबिरंगी चित्रावलीसे सुशोभित था और उसमें निर्ग्रन्थ जैन साधुभी रहते थे। इसी मंदिरमें बैठकर कविने लाटीसंहिताकी रचनाकी है। संभव है कि पंचाध्यायी भी यहीं लिखी गई हो। यह मंदिर साधु दूदाके ज्येष्ठपुत्र और फामनके बडे भाई 'न्योता'ने निर्माण कराया था; जैसा कि संहिताके निम्न पद्यसे प्रगट हैः—

तत्राद्यस्य वरो सुतो वरगुणो न्योताह्वसंघाधिपो।
येनैतज्जिनमंदिरं स्फुटमिह प्रोत्तुंगमत्यद्भुतं।
वैराटे नगरे निधाय विधिववत्पूजाश्च वह्वयः कृताः।
अत्रामुत्र सुखप्रदः स्वयशसः स्तंभः समारोपितः॥ ७२॥

आजकाल वैराट ग्राममें पुरातन वस्तु-शोधकोंके देखने योग्य जो तीन चीजें पाई जाती हैं उनमें पार्श्वनाथका मन्दिरभी एक खास चीज है और वह संभवतः यही मन्दिर मालूम होता है जिसका कविने लाटीसंहितामें

---

१ अकबरके पिता हुमायूँ और पितामह 'बाबर का भी कविने उल्लेख किया है और इन सब को 'गत्ता' जातिके बतलाया है।

२ वैराटग्राम और उसके आसपासका प्रदेश आज भी धातुके मैलसे आच्छादित है, ऐसा डा० भांडारकरने अपनी एक रिपोर्टमें प्रकट किया है, जिसका नाम अगले फुट नोटमें दिया गया है।

उल्लेख किया है[१] । इस संहितामें संहिताको निर्माणकरानेवाले साहू फामनके वंशका भी यत्किंचित् विस्तारके साथ वर्णन दिया है और उससे फामनके पिता, पितामह, पितृव्यों, भाइयों और सबके पुत्र-पौत्रों तथा स्त्रियोंका हाल जाना जाता है । साथ ही, यह मालूम होता है कि वे लोग बहुत कुछ वैभवशाली तथा प्रभाव सम्पन्न थे, इनकी पूर्वनिवास-भूमि 'डौकनि' नामकी नगरी थी और ये काष्ठासंघी भट्टारकोंकी उस गद्दीको मानते थे—उसके अनुयायी अथवा आम्नायी थे—जिसपर क्रमशः कुमारसेन, हेमचन्द्र, पद्मनंदी, यशःकीर्ति और क्षेमकीर्ति नामके भट्टारक

---

१ पार्श्वनाथका यह मंदिर दिगंबर जैन है, और दिगंबर जैनोंके ही अधिकारमें है । इस मंदिरके पासके कंपाउंड (अहाते) की दीवारमें एक लेखवाली शिला चिनी हुई है और उसपर शक संवत १५०९ —वि० सं० १६४४—में 'इंद्रविहार' अपरनाम 'महोदयप्रासाद' नामके एक श्वतांबर मंदिरके निर्मापित तथा प्रतिष्ठित होनेका उल्लेख है । इस परसे डा० आर भांडारकरने, 'आर्किओलॉजिकल सर्वे वेस्टर्न सर्किल. प्रोग्रेस रिपोर्ट सन् १९१०' में यह अनुमान किया है कि उक्त मंदिर पहले श्वेतांबरीकी मिलकियत था (देखो 'प्राचीन लेख संग्रह' द्वितीय भाग) । परंतु भांडारकर महोदयका यह अनुमान, लाटीसंहिताके उक्त कथनको देखते हुए समुचित प्रतीत नहीं होता और इसके कई करण हैं—एक तो यह कि लाटी संहिता उक्त शिलालेखसे साढे तीन वर्षके करीब पहलेकी लिखी हुई है और उसमें वैराट-जिनालयको, जो कितनेही वर्ष पहले बन चुकाथा, एक दिगंबर जैनद्वारा निर्मापित लिखा है ? दूसरे यह कि शिलालेखमें जिस मंदिरका उल्लेख है उसमें मूल नायक प्रतिमा विमलनाथकी बतलाई गई है, ऐसी हालतमें मंदिर विमल-नाथके नामसे प्रसिद्ध होना चाहियेथा, पार्श्वनाथके नामसे नहीं; और तीसरे यह कि शिलालेख एक कंपाउंडकी दीवारमें पाया जाता है जिससे यह बहुत कुछ संभव है कि यह दूसरे मंदिरका शिलालेख हो, उसके गिरजाने पर कंपाउंडकी नई रचना अथवा मरम्मतके समय वह उसमें चिन दिया गया हो। इसके सिवाय दोनों मंदिरोंका पास पास तथा एकही अहातेमें होनाभी कुछ असंभवित नहीं है । पहले कितनेही मंदिर दोनों संप्रदायोंके संयुक्त रहे हैं; उस वक्त आजकल जैसी बेहूदा कशाकशी नहीं थी ।

प्रतिष्ठित हुए थे। क्षेमकीर्ति भट्टारक उस समय मौजूद भी थे और उनके उपदेश तथा आदेशसे उक्त जिनालयमें कितनेही चित्रोंकी रचना हुई थी। वैराटनगरमें उस समय भट्टारक हेमचन्द्रकी प्रसिद्ध आम्नायको पालनेवाले 'ताल्हू' नामके एक विद्वान्भी थे, जिनके अनुग्रहसे फामनको धर्मका स्वरूप जानने आदिमें कितनीही सहायता मिली थी। परन्तु उसका वह सब जानना उस वक्त तक प्रायः सामान्य ही था जब तक कि कविराजमल्ल वहां पहुंचे[1] और उनसे धर्मका विशेष स्वरूपादि पूछा जाकर लाटीसंहिताकी रचना कराई गई।

इस तरह पर कविराजमल्लने वैराट नगर, अकबर बादशाह, काष्ठासंघी भट्टारक वंश, फामन कुटुम्ब, स्वयं फामन और वैराट जिनालयका कितनाही गुणगान तथा बखान करते हुए लाटीसंहिताके रचना सम्बन्धको व्यक्त किया है। परन्तु खेद है कि इतना लम्बा लिखने परभी आपने अपने विषयका कोई खास परिचय नहीं दिया—यह नहीं बतलाया कि आप कहाँके रहनेवाले थे, किस हेतुसे वैराट नगर गये थे, कौनसे वंश, जाति, गोत्र अथवा कुलमें उत्पन्न हुए थे, आपके माता पिता तथा गुरुका क्या नाम था और आप उस समय किस पदमें स्थित थे। लाटीसंहितासे—अध्यात्मकमलमार्तण्डसेभी—इन सब बातोंका कोई पता नहीं चलता। हाँ, लाटीसंहिताकी प्रशस्तिमें एक पद्य निम्न प्रकारसे जरूर पाया जाता है:—

एतेषामस्ति मध्ये गृहवृषरुचिमान् फामनः संघनाथ-
स्तेनोच्चैः कारितेयं सदनसमुचिता संहिता नामलाटी ॥

---

१ कवि राजमल्ल वैराट नगरके निवासी नहीं थे बल्कि स्वयंही किसी अज्ञात कारण वश वहां पहुंच गये थे, यह बात नीचे लिखे पद्यसे प्रकट है, जो संहितामें फामनका वर्णन करते हुए दिया गया है—

येनानन्तरिताभिधानविधिना संघाधिनाथेनयद्-
धर्मारामयशोमयं निजवपुः कर्तुं चिरादीप्सितं ॥
तन्मन्ये फलवत्तरं कृतमिदं लब्ध्वाधुना सत्कविम् ।
वैराटे स्वयमागतं शुभवशादुर्वीशमल्लाह्वयं ॥ ७५ ॥

श्रेयोर्थं फामनीयैः प्रमुदित मनसा दानमानासनाद्यैः ।
स्वोपज्ञा राजमल्लेन विदितविदुषाम्नायिना हैमचन्द्रे ॥४७॥

इस पद्यसे ग्रन्थकर्ताके सम्बन्धमें सिर्फ इतनाही मालूम होता है कि वे हेमचन्द्रकी आम्नायके एक प्रसिद्ध विद्वान् थे और उन्होंने फामनके दान-मान आसनादिकसे प्रसन्नचित्त होकर लाटीसंहिताकी रचना की है। यहाँ जिन हेमचन्द्रका उल्लेख है वे ही काष्ठासंघी भट्टारक हेमचन्द्र जान पड़ते हैं । जो माथुरगच्छ पुष्कर गणान्वयी भट्टारक कुमारसेनके पट्ट-शिष्य तथा पद्मनन्दि भट्टारकके पट्ट गुरु थे और जिनकी कविने संहिताके प्रथमसर्गमें बहुत प्रशंसा की है—लिखा है कि, वे भट्टारकोंके राजा थे, काष्ठासंघरूपी आकाशमें मिथ्यान्धकारको दूर करनेवाले सूर्य थे और उनके नामकी स्मृतिमात्रसे दूसरे आचार्य निस्तेज हो जाते थे अथवा सूर्यके सन्मुख खद्योत और तारागण जैसी उनकी दशा होती थी और वे फीके पड़जाते थे । इन्हीं भ० हेमचन्द्रकी आम्नायमें 'ताल्हू' विद्वानको भी सूचित किया है। इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि कविराजमल्ल एक काष्ठासंघी विद्वान् थे । आपने अपनेको हेमचन्द्रका शिष्य या प्रशिष्य न लिखकर आम्नायी लिखा है और फामनके दान-मान-आसनादिकसे प्रसन्न होकर लाटीसंहिताके लिखनेको सूचित किया है, इससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि आप मुनि नहीं थे । बहुत संभव है कि आप गृहस्थाचार्य हों या ब्रह्मचारी आदिके पद पर प्रतिष्ठित रहे हों। परन्तु कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि आप एक बहुत बडे विद्वान् थे, सत्कवि थे, अच्छे अनुभवी थे और आपकी कृतियां सबोंके पढ़ने तथा संग्रह करनेके योग्य हैं । विद्वानोंको आपके ग्रन्थोंकी खोज करनी चाहिये। सम्भव है कि आपके लिखे हुए कुछ और भी ग्रन्थ मिल जायँ । यहाँ पर मैं इतना, और भी प्रकट कर देना उचित उमझता हूं कि दो एक विद्वान् 'रायमल्ल' नामसे भी हुए हैं, जिन्हें कहीं कहीं 'राजमल्ल' भी लिखा है। जैसे हुंबड़जातीय ब्रह्मचारी रायमल्ल, जिन्होंने वि० सं०

१६६७ में 'भक्तामर' स्तोत्रकी संस्कृत टीका लिखी है, और दूसरे पाण्डे रायमल्ल, जिन्होंने समयसारकी वह बालबोध भाषा टीका लिखी है जिसका कविवर बनारसीदासजीने अपने समयसार नाटकमें उल्लेख किया है। ये लोग लाटीसंहिताके कर्ता कविराजमल्लसे भिन्न थे। अतः कविराजमल्लके ग्रन्थोंकी खोज करनेवाले विद्वानोंको इस विषयका ध्यान रखना चाहिये।"

श्रीवीतरागाय नमः ।

श्रीस्याद्वादानवद्यपद्यगद्यविद्याविशारदविद्वन्मणि-

राजमल्लविरचिता

लाटीसंहिता ।

प्रथमः सर्गः ।

ज्ञानानन्दात्मानं नमामि तीर्थंकरं महावीरम् ।
यच्चिति विश्वमशेषं व्यदीपि नक्षत्रमेकमिव नभसि ॥ १ ॥

नमामि शेषानपि तीर्थनायका-
नन्तबोधादिचतुष्टयात्मनः ।
स्मृतं यदीयं किल नाम भेषजं
भवेद्धि विघ्नौघगदोपशान्तये ॥ २ ॥

प्रदुष्टकर्माष्टकविप्रमुक्तका-
स्तदत्यये चाष्टगुणान्वितानिह ।
समाश्रये सिद्धगणानपि स्फुटं
सिद्धेः पथस्तत्पदमिच्छतां नृणाम् ॥ ३ ॥

---

१ यस्य महावीरस्य । २ ज्ञाने । ३ नाशे ।

त्रयीं नमस्यां जिनलिङ्गधारिणां
सतां मुनीनामुभयोप्रयोगिनाम् ।
पद[1]त्रयं धारयतां विशेषसात्
पदं मुनेरद्धिनर्यो[2]दिहार्थतः ॥ ४ ॥

जयन्ति जैनाः कवयश्च तद्गिरः
प्रवर्तिता यैर्वृषमार्गदेशना ।
विनिर्जितं ज्ञाड्यमिहासुधारिणां
तमस्तमोरेरिव [3]रश्मिभिर्महत् ॥ ५ ॥

इतीव सन्मङ्गलसत्क्रियां दध-
न्नधीयमानोऽन्वयसात्परंपराम् ।
उपज्ञलाटीमिति संहितां कवि-
श्चिकीर्षति श्रावकसद्व्रतस्थितिम् ॥ ६ ॥

द्वीपान्तरीयनिकरैः परितः परीतः
स्वर्णाचलच्छलधृतातपवारणोऽसौ ।
गङ्गौघचामरविराजित [4]एष जम्बू-
द्वीपोधिराज इव राजति मध्यवर्ती ॥ ७ ॥

परीत्य जम्बूतरुमालवालव-
द्गरीयसोच्चैः परिखाब्धिनावृते
अकृत्रिमं क्षेत्रमिहास्ति भारतं
षडंशमात्रीकृतकालभारतम् ॥ ८ ॥

तत्रार्द्धचन्द्राकृतिकायमाने
खण्डानि षट् सन्ति सरिन्नगेभ्यः ।
खण्डोत्रविख्याततमार्यनामा
निःश्रेयसेहास्ति वृषार्जनामा[5] ॥ ९ ॥

---

१ दर्शनज्ञानचारित्रम् । अथवा आचार्योपाध्यायसाधुरूपं पदत्रयम् । २ रद्धितया-दित्यपि पाठः । ३ सूर्यस्य रश्मिभिः । ४ ख पुस्तके "एव" इति पाठः । ५ वृषार्जनाथाः इति साधुः प्रतिभाति ।

तत्रास्ति देशो मगधाभिधेयो
मध्ये यथाङ्गस्य मुखं सुवृत्तम् ।
नानापगाकाननभूधराणा–
मालीभिरालिङ्गितविग्रहोऽसौ ॥ १० ॥
सन्त्यत्र केचिन्नगराधिपास्ते
वक्तुं क्षमो ज्ञोऽपि न यन्महत्त्वम् ।
वैराटनामा किल तत्समोपि
चक्रीव दृष्टः कियदद्भुतश्रीः ॥ ११ ॥
इयन्महीमन्यनगैरनाक्ता—
मृजुं विमुक्तानतिवृत्तिहेतोः —
स्थानोपविष्टं यमुपेत्य चक्रा—
कारा स्थितासीदिव भूभृदाली ॥ १२ ॥
विलोक्य दंड्यानिव दूरवर्तिनः
खनित्रछिन्नानपरांश्च भूभृतः ।
अमी विदग्धाः समुपासते पुरं
विराटसंज्ञं कृतमण्डलच्छलात् ॥ १३ ॥
पुष्पाणां वाटिकाभ्यः प्रचलितमरुतोत्थापितो यः परागः
पुञ्जीभूतोद्रिसङ्घान्नभसि परिगतः, शारदीमभ्रशोभाम् ।
अर्वाक् पौराङ्गनाभिः प्रशमलवमितः कुंकुमाढ्यद्रवाद्यै-
रूर्द्धं वैराटसम्राडिव शिरसि बलादातपत्रं निदध्यौ ॥ १४ ॥
यदभ्रमभ्रंलिहसौधमण्डली
शिरःस्थितस्तम्भनियंत्रिताभिः ।
अयं पताकाभिरुपास्यमानो
रराज सम्राडिव चामरौघैः ॥ १५ ॥
विद्यन्ते निधयोऽप्यनादिनिधना नातीव दूरेप्यथो
नान्यारात्तु तदंघ्रिपादपुरतः भूमौ लुठन्त्यो नैव ।

१ ख पुस्तके "नगराभिधाः" इति पाठः । २ ख पुस्तके "नवा" इति पाठः ।

सुप्राप्याः सुलभास्त्ववार्यविषयाश्चाबालगोपालकैः
विख्याताः पृथिवीषु ताम्रखनयो वैराटकट्याश्रिताः ॥ १६ ॥
रत्नान्येव चतुर्दशेति नियमस्तत्रास्ति नात्रेति यद्-
यत्रास्तां गजवाजिराजितरथा योषित्सहस्राणि च ।
सिद्ध्यन्तीह पदे पदेऽनवरतं धर्मार्थकामादयो
हेतुश्चाप्यपवर्गसंज्ञकगतेः सम्पद्यते प्राणिनाम् ॥ १७ ॥
धार्यन्ते शिरसीव दोमनिवहा मात्राङ्कमुद्रान्विता
वैराटे घटिताः पयोधिवलयादर्वागटन्तः क्रमात् ।
नोल्लंघ्या जगतीह सर्वनृपतेश्चाज्ञा[1] इवोल्लेखिता
न्यायादागतमेतदेव नियमात्सश्लाघ्यतां तत्समः ॥ १८ ॥

हस्त्यश्वपादातिरथाः प्रकामं
चमूरिवाभान्ति यथोपमानम् ।
यत्रानिशं संप्रति वर्तमानाः
साम्राज्यभाजोस्य किमस्ति शेषः ॥ १९ ॥
भटाः प्रचारोद्भटसौष्ठवोत्कटाः
करे ललज्जिह्वमासिधारिणः ।
इतस्ततोऽटन्ति रणे समुत्सुका
यदत्र सम्राट् स समर्थितोऽर्थतः ॥ २० ॥

प्राकारो वलयाकृतिः परिलसन्नानाश्मनिर्मापितो
वैराटं प्रविवेष्ट्य भाति परतः सर्वान्यचक्रोज्झितम् ।
मध्याह्ने किल दृष्टनष्ट इव यद्भास्वानिहाभ्रंलिहि[2]
तन्मन्ये परिवेष एष शशिना सेवाकृते प्रेक्षितः ॥ २१ ॥

उपर्युपरि शालमशेषतः क्रमात्
पुरःस्थिताः कंगुडसंज्ञया मताः ।
मन्ये नु वैराटनृपस्य नेमे-
रारा दरिद्रारिविनाशनाय ॥ २२ ॥

---

१ "क" "ख" पुस्तकयोः "सार्वभौमस्याज्ञा" इति पाठः । २ आकाशस्पृशि ।

प्राकारात्परितोऽप्यनन्तरतमो यस्यास्त्यपाच्यां दिशि
विख्यातो भुवि वन्हिना द्रवंकरो, नाम्नापि ताम्राकरः ।
कोष्ठाग्रैर्वडवानलानलमपां घोषाश्च भस्त्रारवैः
किट्टोर्मीर्दधता यमार्यशकलोऽनेनैव खण्डाब्धिना ॥ २३ ॥

पातालमादातुमपीह कामो
वैराटनामा परिखोन्मिषाद्वै
जिष्णुर्यतोनेकपदाहवे य-
स्तृणाय मन्येत जगत्त्रयं यत् ॥ २४ ॥

विरेजुरत्रापि च सौधपंक्तयः
सितादिवर्णोपलचित्रभित्तयः ।
उपर्युपर्याजलदाध्वगामिनो
गृहोपरिष्टाद्गणनातिगां गृहाः ॥ २५ ॥

मनुजनामविधेरुदयात्परं
जनितमात्रतया नरजाङ्गनाः ।
सुतनुकान्तिभरादतिशायिना-
च्छुशुभिरे किमिहामरयोषितः ॥ २६ ॥

सुधावधूलीकृतगात्रयष्टयो
यदीयसौधाः स्वगुणातिशायिनः ।
हसन्ति यद्वा कुकवीनमीभिः
समं विमानान्युत्प्रेक्षितो दिवः ॥ २७ ॥

गृहाग्रसंलग्नमृगाङ्ककान्तयो
विधोः कराश्लेषवशात्स्रवन्ति वाः।
जितो हि वैराटबधूजनाननै
रुदन्निवेन्दुः प्रहताधिकारतः ॥२८॥

हर्म्याङ्गणेषु खचितस्फटिकोपलेषु
काचिच्च बालबनितानुपतिं नवोढा ।

१ दाक्षिणदिशि । २ अग्निना ताम्रं इव भवति । ३ आकाशं मर्यादीकृत्य ।
४ मनुष्यगतिनामकर्मो दयात् । ५ पानीयं स्रवन्ति ।

दृष्ट्वात्मनः प्रतिनिधिं किल शङ्कितासी
द्रक्तेक्षणा क्षणममर्षधिया सपत्न्याः ॥ २९ ॥
बभुः सरांसीव भुवो यदन्तरे
गृहाङ्गभागेषु मणित्विषां चयाः ।
वराङ्गनाः संवरिताम्बराः क्षणं
ययुस्तपान्तास्तरणातुराः पुनः ॥ ३० ॥
यत्रात्र कान्ता रतवेश्मनीह
निवेशितादर्शशताश्मभित्तौ ।
बाला प्रतिच्छायमवेक्ष्य रूपं
वृथाऽकरोन्मानमनल्पसंभ्रमात् ॥ ३१ ॥
विचित्रचित्राणि यदीयसद्मसु
व्यलीलिखत्कर्मसु सूत्रधारः ।
नूनं विलोक्यैतदकारि सद्विधिः
जगत्परं चात्मकृतार्थतां गतः ॥ ३२ ॥
यदङ्गनामङ्गलगानकोटिभिः
प्लुते मुदातोद्यरवैर्विहायसि ।
विधूपिताशामुखधूपधूम्रकै
रिहानिशं रौति शिखी स्म वेश्मसु ॥ ३३ ॥
विद्यन्ते नगराण्यनन्तगणितान्यासागरार्णांसि वै
तत्रापि प्रतिपत्तनं युवतयस्तारुण्यतोयोर्मयः ।
किन्त्वत्रत्यवराङ्गनापरिलसद्दृक्कोणलीलावली
वाणास्त्रैर्मनुतेस्म दुर्गमतुलं वैराटकं मन्मथः ॥ ३४ ॥
आसीदयत्नादपि जागरूको
जगज्जिगीषुः कुसुमायुधश्च ।
लीलारणन्नूपुरतौर्यनादै
र्निस्ताहि वैराटपुराङ्गनानाम् ॥ ३५ ॥

१ प्रतिबिम्बम् । २ वादित्रशब्दैः । ३ आकाशे ।

यदीयहर्म्याग्रनिबद्धपद्धती
दुकूलरत्नाभरणाद्यलंकृताः ।
वधूरुपेत्येन्द्रधनुःशताकृति-
मगादकालेऽपि विराटपत्तनम् ॥ ३६ ॥
विराटवीथीषु नवोढयोषितां
गमागमाभ्यासवशानुसारिभिः ।
तदाननामोदमदालिनिःस्वनै[1]
रयं मधुः कोऽप्ययपरः सदातनः ॥ ३७ ॥
घनाघनाश्लेषजगज्जनौघै-
र्वैराटहट्टाध्वसु[2] पर्यटद्भिः ।
गतेः प्रचारोपि च दुर्गमोऽभू-
द्वारांनिधेः पार इवोर्म्मिजालैः ॥ ३८ ॥
अनेकदेशीयजनैरनेकै
श्रितः सरिद्भिः सरितांपतिर्यथा ।
तदागमिष्यन्निखिलोपमेयतां
यदा स सिन्धुर्मधुरोऽभविष्यत् ॥ ३९ ॥
वेदाः प्रमाणं हि पठद्भिरुच्चै
र्विप्रैरनूनैरिह सम्भृतोऽसौ ।
शुक्लाम्बरांगश्च चतुर्भिरास्यै
र्वैराटनाम्नावततार धाता ॥ ४० ॥
उर्वी[3] यदन्ते विपुला स्वसीम्नः
सस्यारुहाः सप्रसवेव योषित् ।
धान्यानि सूते विविधान्यजस्रं
रत्नानि यद्वा सुसुतोपमानि ॥ ४१ ॥
सार्द्राणि यत्रोपवनानि नित्यं
नम्राणि भूयो मरुतेरितानि ।

१ शब्दैः । २ मार्गेषु । ३ उर्वी इति पृथ्वी । यथा योषित् सप्रसवा तथेयं उर्वी सस्यप्रसवा ।

वाचालितानीव पिकस्वनाद्यैः
सप्रश्रयाणीव हि पार्षदानि[1] ॥ ४२ ॥
यस्यान्तिके कूपतडागवाप्यः
सुधावलिप्तोज्वलकण्ठदेशाः ।
परीत्य[2] पूर्णं प्रतिबिम्बमिन्दोः
स्थिताःविरेजुर्नभसीव ताराः ॥ ४३ ॥
सरस्सु वापीषु कुशेशयानां
क्वचित्सहस्राणि शतानि यत्र ।
वैराटसम्राज्यमुखेन्दुशोभां
द्रष्टुं धरित्र्याः धृतलोचनानि ॥ ४४ ॥
लोलोर्म्मयो यत्र जलाशयेषु
क्षणं पतित्वाथ समुत्पतन्ति ।
मन्ये मुखं वीक्ष्य विराटराज्ञः
स्खलन्त्यनङ्गादवलाः पदे पदे ॥ ४५ ॥
वापीकूपतडागचत्वरमठक्रीडाद्रिवाट्यादिषु
भामिन्यो रमणैः सहोत्सुकतयोद्रेकाद्रमन्ते रहः
तन्मन्येऽमरदम्पतीशतमिदंस्वर्गात्समुत्तीर्य यत्
दृष्ट्वाश्चर्यपरंपरां मुदमगाद्वैराटपार्श्वे स्थितम् ॥ ४६ ॥
गमागमाभ्यामटतां जनानां
श्रेणी चतुर्दिक्षु चतुर्मुखेभ्यः ।
[3]अत्राकरिष्यदलमेव सुरापगायाः
पूरेण सा चेदभविष्यदेका ॥ ४७ ॥
यतो[4] बहिर्भागधरासु संस्थिताः
कृषीवलाः सार्भकबन्धुयोषितः ।

१ पर्षदि सभायां योग्यानि पार्षदानि समीपवर्तीनि सेवकानि । २ वेष्ट्य ।
३ वसन्ततिलकापादोऽयमुपजातिमध्ये आपातितः । ४ वैराटनगरात् ।

मनाग्मनागन्तरमाश्रितां[1]श्रमाः
दधुर्दिवाग्रामशतोपमेयताम् ॥ ४८ ॥
क्रीडाद्रिशृङ्गेषु च पाण्डवाना
मद्यापि चाश्चर्यपरंपरांङ्काः ।
यान् कांश्चिदालोक्य बलावलिप्ता
दर्प्पं विमुञ्चन्ति महाबला अपि ॥ ४९ ॥
जले जने नक्रमहानियोजनं
धनुर्भृता ज्या निहतिर्न सम्पदाम् ।
रणे यतौ चापगुणे न संग्रहो
विशालता यत्र न सा विशालता ॥ ५० ॥
दण्डोस्ति छत्रे न किल प्रजायां
बन्धोऽस्ति हारे न जने कचिद्वै ।
गन्धापहो गन्धवहोस्ति तस्करो
न तस्करः कोपि परार्थसङ्ग्रहे ॥ ५१ ॥
नवोढवध्वा नवसङ्गमे भयं
न जातु भीतिः परचक्रिणो रणे ।
वस्त्रापहारो रतकर्मणि ध्रुवं
यत्रापहारोस्त्यपरो न कश्चित् ॥ ५२ ॥
छिद्रग्रहो मौक्तिकदामगुम्फे
न सूययान्योन्यजनेषु कश्चित् ।
द्यूते ध्वनिर्मा[2]रय मारयेति
न बालगोपालमुखेषु यत्र ॥ ५३ ॥
ताम्बूलभुक्तावितिखण्डनं वा
भोगोपभोगे न च तत्कदाचित् ।

---

१ 'क' पुस्तके "माश्रिताः श्रमा" इति पाठः । २ 'ख' पुस्तके 'सा' इति पाठः ।

क्षतं नखाङ्कैर्वरयोषिदङ्गे
सौध्यावलीसंहनने न यत्र ॥ ५४ ॥
रागोऽधरे यत्र नितम्बिनीनां
नान्यस्वदाराधनवञ्चनेषु ।
नेत्रद्वयो रञ्जनमङ्गनामां
पापाञ्जर्न नैव जनेषु किञ्चित् ॥ ५५ ॥
पयोजनाले परमस्ति कण्टको
न कण्टकः कोऽपि मिथः प्रजायाम् ।
नूनं सरोगो न जनोऽत्र कश्चित्
परं सरोगो[1] यदि राजहंसः ॥ ५६ ॥
दरिद्रता दातृजने न यत्र
परं प्रतिग्राहिणि सास्ति पात्रे ।
नान्तस्तदाश्चर्यपरंपराणा
मापूर्यतां चेत्कविधर्मशक्तिः ॥ ५७ ॥
इत्याद्यनेकैर्महिमोपमानै
वैंराटनाम्ना नगरं विलोक्य ।
स्तोतुं मनागात्मतया प्रवृत्तः
सानंदमास्ते कविराजमल्लः ॥ ५८ ॥

आसीदुग्रसमग्रवंशविदिता या स्वर्धुनीवामला
नानाभूपतिरत्नभूरिव परा जातिश्च गत्ताभिधा ।
तस्यां बाबरपातिसाहिरभवन्निर्जित्यशत्रून् बला–
द्दिल्लीमण्डलमण्डितात्मयशसा पूर्णप्रतापानलः ॥ ५९ ॥
तत्पुत्रः समजीजनन्निजकुले व्योम्नीव चण्डांशुमान्
दोर्दण्डैरिव खंडनोद्भटमना नाम्ना हुमाहुं नृपः ।
दुर्वारो विलसत्प्रतापमहिमा चैकांतपात्राङ्कितो
विख्यातो भुवि यः समुद्रपरिखापर्यंतभूमीश्वरः ॥ ६० ॥

१ सरसि गच्छतीति सरोगः ।

तत्पुत्रोऽजनि सार्वभौमसदृशः प्रोद्यत्प्रतापानल-
ज्वालाजालमतल्लिकाभिरभितः प्रज्वालितारिव्रजः ।
श्रीमत्साहिशिरोमणिस्त्वकबरो निःशेषशेषाधिपैः
नानारत्नकिरीटकोटिघटितः सृग्भिः श्रितांह्रिद्वयः ॥ ६१ ॥
श्रीमद्डिंडीरपिण्डोपमितमितनभः पाण्डुराखण्डकीर्त्या
क्रुष्टं ब्रह्माण्डकाण्डं निजभुजयशसा मण्डपाडम्बरोऽस्मिन् ।
येनासौ पातिसाहिः प्रतपदकबरप्रख्यविख्यातकीर्ति-
र्जीयाद्भोक्ताथ नाथः प्रभुरिति नगरस्यास्य वैराटनाम्नः ॥ ६२ ॥
जैनो धर्मोनवद्यो जगति विजयतेऽद्यापि सन्तानवर्ती
साक्षाद्दैगम्बरास्ते यतय इह यथा-जातरूपाङ्कलक्ष्माः ।
तस्मै तेभ्यो नमोस्तु त्रिसमयनियतं प्रोल्लसद्यत्प्रसादा-
दर्वागावर्द्धमानं प्रतिघविरहितो वर्तते मोक्षमार्गः ॥ ६३ ॥
श्रीमति काष्ठासंघे माथुरगच्छेऽथ पुष्करे च गणे ।
लोहाचार्यप्रभृतौ समन्वये वर्तमाने च ॥ ६४ ॥
आसीत् सूरिकुमारसेनविदितः पट्टस्थभट्टारकः
स्याद्वादैरनवद्यवादनखरैर्वादीभकुम्भेभामित् ।
येनेदं युगयोगिभिः परिभूतं सम्यग्दृगादित्रयी
नानारत्नाचितं वृषप्रवहणं निन्येऽद्य पारंपरम् ॥ ६५ ॥
तत्पट्टेऽजनि हेमचन्द्रगणभृद्भट्टारकोर्वीपतिः
काष्ठासङ्घनभोङ्गणे दिनमणिर्मिथ्यान्धकारारिजित् ।
यन्नामस्मृतिमात्रतोन्यगणिनो विच्छायतामागताः
खद्योता इव वाथवाप्युडुगणा भान्तीव भास्वत्पुरः ॥ ६६ ॥
तत्पट्टेऽभवदर्हतामवयवः श्रीपद्मनन्दी गणी
त्रैवेद्यो जिन धर्मकर्मठमनाः प्रायः सतामग्रणीः ।
भव्यात्मप्रतिबोधनोद्भटमतिर्भट्टारको वाक्पटु-
र्यस्याद्यापि यशः शशाङ्कविशदं जागर्ति भूमण्डले ॥ ६७ ॥

---

१ सिंहः । २ तीर्थकृत्प्रतिरूपः ।

तत्पट्टे परमाख्यया मुनियशःकीर्तिश्च भट्टारको
नैर्ग्रन्थ्यंपदमार्हतं श्रुतवलादादाय निःशेषतः ।
सर्पिर्दुग्धदधीक्षुतैलमखिलं पञ्चापि यावद्रसान्
त्यक्त्वा जन्ममथं तदुग्रमकरोत् कर्म्मक्षयार्थं तपः ॥ ६८ ॥

तत्पट्टेऽस्त्यधुना प्रतापनिलयः श्रीक्षेमकीर्तिर्मुनिः
हेयादेयविचारचारुचतुरो भट्टारकोष्णांशुमान् ।
यस्यप्रोषधपारणादिसमये पादोदविन्दूत्करै—
र्जातान्येव शिरांसि धौतकलुषाण्याशाम्बराणां नृणाम् ॥ ६९ ॥

तेषां तदाम्नायपरंपराया
मासीत्पुरो डौकानिनाम धेयः ।
तद्वासिनः केचिदुपासकाः स्युः
सुरेन्द्रसामग्र्युपमीयमानः ॥ ७० ॥

उग्राग्रोतकवंशशंशितपदप्रोद्भूतजन्माश्रमः
श्रीमन्मङ्गलगोत्रलाञ्छनतया दक्षैः सुलक्ष्यो भुवि ।
आसीच्छ्रीवनिजांपतिर्वृषमतिर्भारू स्ववंशे रविः
साधुः साधुरितीह लोकविदितो धर्मैकतानो धनी ॥ ७१ ॥

तस्यासन्निह सूनवः क्रमभुवो वेदैरिवोत्प्रेक्षिताः—
दूदाद्यः ठकुरोथ नाम जगसी तुर्यस्तिलोकाह्वयः ।
शाखाकल्पतरोरिवात्मजनतावर्गस्य संपोषकाः
चत्वारोऽपि निजान्वयोज्ज्वलयशोधाम्नः सुपक्षा इव ॥ ७२ ॥

तत्राद्यस्य सुतो वरो वरगुणो न्योताह्वसंघाधिपो
येनैतज्जिनमन्दिरं स्फुटमिह प्रोत्तुङ्गमत्यद्भुतम् ।
वैराटे नगरे निधाय विधिवत् पूजाश्च वह्व्यः कृत—
मत्रामुत्र सुखप्रदः स्वयशसः स्तम्भः समारोपितः ॥ ७३ ॥

श्रीसङ्घाधिपतिः प्रतापतपनो भोल्हा द्वितीयोङ्गजो
दुर्दान्तारिकुलाचलाधरशिरः पाताय वज्रायितः ।

पार्थाख्यायितविक्रमः स्वशरणायायातधात्रीभुजां
वैराटीयमहत्तरेष्वपि महत्सूत्रायितं यद्वचः ॥ ७४ ॥
उक्तभ्रातृयुगावरोपि जननो[1]पक्षीणहेतोः क्रमात्
सर्वैरेव गुणैर्वरस्तदुभयप्रोक्तोक्तिसंसूचितः ।
अन्यैः कैश्चिदपि प्रकर्षकरणैर्लब्धावकाशो गुणै-
र्नाम्ना 'फामन' साम्यधर्मनिरतो जीयादुपज्ञाग्रणीः ॥ ७५ ॥
येनानन्तरिताभिधानविधिना सङ्घाधिनाथेन य-
च्छर्मारामयशोमयं निजवपुः कर्तुं चिरादीप्सितम् ।
तन्मन्ये फलवत्तरं कृतमिदं लब्ध्वाधुना सत्कविम्[2]
वैराटे स्वयमागतं शुभवशाद्रूमीशमल्लाह्वयम्[3] ॥ ७६ ॥
प्रागज्ञायि महात्मनात्ममतिना येनैतदध्यक्षतः
धर्मादेव सुखश्रि[4]तो यदसुखं प्रायोस्त्यधर्मादिति ।
तत्तात्हूविदुषः कृपापरतया देशोपदेशद्वया-
च्छ्रीभट्टारकहेमचन्द्रविदिताम्नाये[5] कृतानात्मनः ॥ ७७ ॥
सामान्यादवगम्य धर्मफलितुं ज्ञातुं विशेषादपि
भक्त्या यस्तमपीपृच्छदवृषरुचिर्नाम्नाधुना फामनः ।
धर्मत्वं किमथास्य हेतुरथ किं साक्षात्फलं तत्त्वतः
स्वामित्वं किमथेति सूरिरवदत् सर्वं प्रणुन्नः कविः ॥ ७८ ॥
धर्मः प्राणिदया तदर्थमथ यत् सत्यव्रतादि स्फुटं
यद्वार्हत्प्रतिबिम्बपूजनमतः सत्पात्रदानादि यत् ।
तद्धेतुर्बहिराप्तवागथ फलं स्वर्गापवर्गश्रियो
भव्यस्तत्पदभागुपासकमणे धर्मं कुरुष्वादरात् ॥ ७९ ॥
सत्यं धर्मरसायनो यदि तदा मां शिक्षयोपक्रमात्[6]

---

१ 'ख' पुस्तके "जनतो" इतिपाठः । २ 'क' पुस्तके "सत्कविः" इतिपाठः । ३ 'क' पुस्तके "मल्लाह्वयः" इतिपाठः किन्तु न साधुः प्रतिभाति । ४ "क" पुस्तके "सुखाश्रितो" इतिपाठः अयमपि न साधुः । ५ "क" "ख" पुस्तकयोः "आम्नाये" इतिपाठः । ६ उद्यमात् ।

सारोद्धारमिवाप्यनुग्रहतया स्वल्पाक्षरं सारवत् ।
आर्षं चापि मृदूक्तिभिः स्फुटमनुच्छिष्टं नवीनं मह-
न्निर्माणं परिधेहि सङ्घनृपतिः भूयोप्यवादीदिति ॥ ८० ॥
श्रुत्वेत्यादिवचःशतं मृदुरुचिर्निर्दिष्टनामा कवि
र्नेतुं यावदमोघतामभिमतं स्वोपक्रमायोद्यतः ।
तत्रत्यं जिनमन्दिरं कविमनोहृग्गोचरं व्याहर-
त्तावच्चेति सहायतां गुरुवचो द्रव्यादिलब्धाविव ॥ ८१ ॥
उच्चैरुच्चतरस्थलादपिदृढप्राविश्रिता भित्तयः
पक्षेस्तम्भसमृद्धकोष्टघटिताः शालाश्चतस्रः शुभाः ।
मध्ये स्याद्वरवेदिकोत्तमतनुः कूटोस्ति मन्येत्वहं
वैराटस्य शिरःकिरीटघटितं चैताज्जिनानां गृहम् ॥ ८२ ॥

अनुपमशरसंख्यापूर्णवर्णावलीभि
र्लिखितमनुजनागामर्त्यसर्वस्वसारम् ।
ध्वजचमरमृगेन्द्रस्यासनातोद्यछत्रैः
समवसरणशोभोद्भासि सद्मेदमत्र ॥ ८३ ॥

चित्रालीर्यदलीलिखात्त्रिजगतामासृष्टिसर्गक्रमा
दादेशादुपदेशतश्च नियतं श्रीक्षेमकीर्तेः गुरोः ।
गुर्वाज्ञानतिवृत्तितश्च विदुषस्ताल्हूपदेशादपि
वैराटस्य जिनालये लिपिकरस्तत्सार्थनामाप्यभूत् ॥ ८४ ॥
यत्र श्रावकसङ्घमण्डितमही स्वर्गाचले वाद्युतत्
स्याद्वादोद्यदमन्दवादविदितास्तिष्ठन्तियत्रार्हताः ।
निर्ग्रन्थाः शमिनस्तपोग्निभरतो, निर्दग्धकर्म्मेन्धनाः
श्रीवैराटपुरास्थितं जिनगृहं तत्केन संवर्ण्यते ॥ ८५ ॥
पात्रेभ्यो गृहधर्मकर्मनिरतैर्नित्यं सदाचारिभिः
दीयन्तेऽभयभेषजानुभवनान्नादीनि दानानि च ।
पूज्यन्ते जिनबिम्बशास्त्रमुनयो यत्रानिशं श्रेयसे
श्रीवैराटजिनालयः प्रतिदिनं जीयाद्वरेण्यो वरः ॥ ८६ ॥

इत्याद्यनेकगुणराजिविराजमानं
संप्रेक्षणीयमनिशं जगदीक्षणानाम् ।
तत्र स्थितः किल करोति कविः कवित्वं
तद्वर्द्धतामपि गुणं जिनशासनं च ॥ ८७ ॥

इति श्रीस्याद्वादानवद्यपद्यगद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्लवि-
रचितायां श्रावकाचारापरनामलाटीसंहितायां साधुश्री
दूदात्मजफामनमनःसरोजारविन्दाविकाशनैक मार्त्त-
ण्डमण्डलायमानायां कथामुखवर्णनं नाम
प्रथमः सर्गः ।

अथ द्वितीयः सर्गः ।

एतत्कथामुखरसे रसिकाग्रणीर्यो
दूदात्मजो जयति फामननामधेयः ।
वैराटपट्टमहतां महनीयकीर्ति-
रुग्रोतकान्वयमयो गरिमाम्बुराशिः ॥ १ ॥

अहिंसा परमोधर्मः स्यादधर्मस्तदत्ययात्[1] ।
सिद्धान्तः सर्वतन्त्रोयं तद्विशेषोऽधुनोच्यते ॥
सर्वसावद्ययोगस्य निवृतिर्व्रतमुच्यते ।
यो मृषादिपरित्यागः सोस्तु तस्यैव विस्तरः ॥ २ ॥
तद्व्रतं सर्वतः कर्तुं मुनिरेव क्षमो महान् ।
तस्यैव मोक्षमार्गश्च भावी नान्यस्य जातुचित् ॥ ३ ॥
अतः सर्वात्मना सम्यक् कर्तव्यं तद्धि धीधनैः ।
कृच्छ्रलब्धे नरत्वेऽस्मिन् सूकविन्दूदकोपमे ॥ ४ ॥

१ अहिंसाधर्मनाशात् ।

तत्रालसो जनः कश्चित्कषायभरगौरवात् ।
असमर्थस्तथाप्येष गृहस्थव्रतमाचरेत् ॥ ५ ॥

उक्तं च ।

गुणं वय तव सम पडिमा दाणं जलगालणं च अणात्थिमियं ।
दंसणणाणचरित्तं किरिया तेवण्ण सावयाणं च ॥ १ ॥

तथा चोक्तम् ।

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य ।
बंभारंभपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो य ॥ २ ॥

अष्टमूलगुणोपेतो द्यूतादिव्यसनोज्झितः ।
नरो दर्शनिकः प्रोक्तः स्याच्चेत्सद्दर्शनान्वितः ॥ ६ ॥
मद्यं मांसं तथा क्षौद्रमथोदुम्बरपञ्चकम् ।
वर्जयेच्छ्रावको धीमान् केवलं कुलधर्मावित् ॥ ७ ॥
ननु साक्षान्मकारादित्रयं जैनो न भक्षयेत् ।
तस्य किं वर्जनं न स्यादसिद्धं सिद्धसाधनात् ॥ ८ ॥
नैवं यस्मादतीचाराः सन्ति तत्रापि केचन ।
अनाचारसमाः नूनं त्याज्या धर्मार्थिभिः स्फुटम् ॥ ९ ॥
तद्भेदा बहवः सन्ति मादृशां वागगोचराः ।
तथापि व्यवहारार्थं निर्दिष्टाः केचिदन्वयात् ॥ १० ॥
चर्म्मभाण्डे तु निक्षिप्ताःघृततैलजलादयः ।
त्याज्याः यतस्त्रसादीनां शरीरपिशिताश्रिताः ॥ ११ ॥
नचाशङ्क्यं पुनस्तत्र सन्ति यद्वा न सन्ति ते ।
संशयोऽनुपलब्धित्वाद् दुर्वारो व्योमचित्रवत् ॥ १२ ॥

---

१ गुण शब्देन अष्टौ मूलगुणाः ज्ञेयाः । गुणाः ८, व्रतानि १२, तप १२, समता १, प्रतिमा ११, दानं ४, जलगालनं १, च अनस्तिमितम् १, । दर्शन-ज्ञानचरित्रं ३, कियाः त्रिपञ्चाशत् श्रावकानां च ।

सर्वं सर्वज्ञज्ञानेन दृष्टं विश्वैकचक्षुषा ।
तदाज्ञया प्रमाणेन माननीयं मनीषिभिः ॥ १३ ॥
नोह्यमेतावता पापं स्याद्वा न स्यादतीन्द्रियात् ।
अंहो मांसाशिनोऽवश्यं प्रोक्तं जैनागमे यतः ॥ १४ ॥
तदेवं वक्ष्यमाणेषु सूत्रेषूदितसूत्रवत् ।
संशयो नैव कर्तव्यः शासनं जैनमिच्छता ॥ १५ ॥
अन्नं मुद्गादि, शुंठ्यादि भेषजं, शर्करादि वा ।
खाद्यं, स्वाद्यं तु भोगार्थं ताम्बूलादि यथागमात् ॥ १६ ॥
पेयं दुग्धादि लेपस्तु तैलाभ्यङ्गादि कर्म यत् ।
चतुर्विधमिदं यावदाहार इति संज्ञितः ॥ १७ ॥
अथाहारकृते द्रव्यं शुद्धशोधितमाहरेत् ।
अन्यथामिषदोषः स्यात्तदनेकत्रसाश्रितात् ॥ १८ ॥
विद्धं त्रसाश्रितं यावद्वर्जयेत्तदभक्ष्यवत् ।
शतशः शोधितं चापि सावधानैर्दृगादिभिः ॥ १९ ॥
संदिग्धं च यदन्नादि श्रितं वा नाश्रितं त्रसैः ।
मनःशुद्धिप्रसिद्ध्यर्थं श्रावकः क्वापि नाहरेत् ॥ २० ॥
अविद्धमपि निर्दोषं योग्यं चानाश्रितं त्रसैः ।
आचरेच्छ्रावकः सम्यग्दृष्टं नादृष्टमीक्षणैः ॥ २१ ॥
ननु शुद्धं यदन्नादि कृतं शोधनयानया ।
मैवं प्रमाददोषत्वात्कल्मषस्यास्रवो भवेत् ॥ २२ ॥
गालितं दृढवस्त्रेण सर्पिस्तैलं पयो द्रवम् ।
तोयं जिनागमाम्नायादाहरेन्स न चान्यथा ॥ २३ ॥
अन्यथा दोष एव स्यान्मांसातीचारसंज्ञकः ।
अस्ति तत्र त्रसादीनां मृतस्याङ्गस्य शेषता ॥ २४ ॥

१ न विचार्यम् । २ पापम् । ३ "क" "ख" पुस्तकयोः "अभक्षवत्" इति पाठः । ४ नेत्रादिभिः ।

दुरवधानतया मोहात्प्रमादाद्वापि शोधितम् ।
दुःशोधितं तदेव स्याद् ज्ञेयं चाशोधितं यथा ॥ २५ ॥
तस्मात्सद्व्रतरक्षार्थं पलदोषनिवृत्तये ।
आत्मदृग्भिः स्वहस्तैश्च सम्यगन्नादि शोधयेत् ॥ २६ ॥
यथात्मार्थं सुवर्णादिक्रयार्थी सम्यगीक्षयेत् ।
व्रतवानपि गृह्णीयादाहारं सुनिरीक्षितम् ॥ २७ ॥
सधर्मेणानभिज्ञेन साभिज्ञेन विधर्मिणा ।
शोधितं पाचितं चापि नाहरेद् व्रतरक्षकः ॥ २८ ॥
ननु केनापि स्वीयेन सधर्मेण विधर्मिणा ।
शोधितं पाचितं भाज्यं सुज्ञेन स्पष्टचक्षुषा ॥ २९ ॥
मैवं यथोदितस्योच्चैर्विश्वासो व्रतहानये ।
अनार्यस्याप्यनार्द्रस्य[2] संयमे नाधिकारिता ॥ ३० ॥
चलितत्वात्सीम्नश्चैव नूनं भाविव्रतक्षतिः ।
शैथिल्याद्धीयमानस्य संयमस्य कुतः स्थितिः ॥ ३१ ॥
शोधितस्य चिरात्तस्य न कुर्याद् ग्रहणं कृती ।
कालस्यातिक्रमाद्भूयो दृष्टिपूतं समाचरेत् ॥ ३२ ॥
केवलेनाग्निना पक्वं मिश्रितेन घृतेन वा ।
उषितान्नं[3] न भुञ्जीत पिशिताशनदोषवित् ॥ ३३ ॥
तत्रातिकालमात्रत्वे परिणामगुणात्तथा ।
सम्मूर्च्छयन्ते त्रसाः सूक्ष्माः ज्ञेयाः सर्वविदाज्ञया ॥ ३४ ॥
शाकपत्राणि सर्वाणि नादेयानि कदाचन ।
श्रावकैर्मांसदोषस्य वर्जनार्थं प्रयत्नतः ॥ ३५ ॥
तत्रावश्यं त्रसाः सूक्ष्माः केचित्स्युर्दृष्टिगोचराः ।
न त्यजन्ति कदाचित्तं शाकपत्राश्रयं मनाक् ॥ ३६ ॥
तस्माद्धर्मार्थिना नूनमात्मनो हितमिच्छता ।
आताम्बूलं दलं त्याज्यं श्रावकैर्दर्शनान्वितैः ॥ ३७ ॥

१ मनःशून्यतया । २ निर्दयस्य । ३ वासितम् ।

रजन्यां भोजनं त्याज्यं नैष्ठिकैर्व्रतधारिभिः ।
पिशिताशनदोषस्य त्यागाय महदुद्यमैः ॥ ३८ ॥
ननु रात्रिभुक्तित्यागो नात्रोद्देश्यस्त्वया क्वचित् ।
षष्ठसंज्ञकविख्यातप्रतिमायामास्ते यतः ॥ ३९ ॥
सत्यं सर्वात्मना तत्र निशाभोजनवर्जनम् ।
हेतोः किन्त्वत्र दिग्मात्रं सिद्धं स्वानुभवागमात् ॥ ४० ॥
अस्ति कश्चिद्विशेषोत्र स्वल्पाभासोर्थतोमहान् ।
सातिचारोऽत्र दिग्मात्रे तत्रातीचारवर्जिताः ॥ ४१ ॥
निषिद्धमन्नमात्रादिस्थूलभोज्यं व्रते दृशः ।
न निषिद्धं जलाद्यत्र ताम्बूलाद्यपि वा निशि ॥ ४२ ॥
तत्र ताम्बूलतोयादिनिषिद्धं यावदञ्जसा ।
प्राणान्तेऽपि न भोक्तव्यमौषधादि मनीषिणा ॥ ४३ ॥
न वाच्यं भोजयेदन्नं कश्चिद्दर्शनिको निशि ।
अव्रतित्वादशक्यत्वात्पक्षमात्रात्सपाक्षिकः ॥ ४४ ॥
अस्ति तत्र कुलाचारः सैषा नाम्ना कुलक्रिया ।
तां विना दर्शनिको न स्यान्नस्यान्नामतस्तथा ॥ ४५ ॥
मांसमात्रपरित्यागादनस्तमितभोजनम् ।
व्रतं सर्वजघन्यंस्यात्तदधस्तात्स्यादक्रियाः ॥ ४६ ॥
नेत्थं यः पाक्षिकः कश्चिद् व्रताभावादस्त्यव्रती ।
पक्षमात्रावलम्बी स्याद्व्रतमात्रं नचाचरेत् ॥ ४७ ॥
यतोस्य पक्षग्राहित्वमसिद्धं बाधसम्भवात् ।
लोपात्सर्वविंदाज्ञायाः साध्या पाक्षिकता कुतः ॥ ४८ ॥
आज्ञा सर्वविदः सैव क्रियावान् श्रावको मतः ।
कश्चित्सर्वनिकृष्टोपि न त्यजेत्स कुलक्रियाः ॥ ४९ ॥

---

१ अल्पमात्रम् । २ क ख पुस्तकयोः "स्यान्नस्याद्वानामतस्तथा" इति पाठः किन्त्वनेनैकाक्षराधिक्यम् ।

उक्तेषु वक्ष्यमाणेषु दर्शनिकव्रतेषु च ।
सन्देहो नैव कर्तव्यः कर्तव्यो व्रतसंग्रहः ॥ ५० ॥
प्रसिद्धं सर्वलोकेस्मिन् निशायां दीपसन्निधौ ।
पतङ्गादि पतत्येव प्राणिजातं त्रसात्मकम् ॥ ५१ ॥
म्रियन्ते जन्तवस्तत्र झम्पापातात्समक्षतः ।
तत्कलेवरसम्मिश्रं तत्कुतः स्यादनामिषम् ॥ ५२ ॥
युक्तायुक्तविचारोपि नास्ति वा निशि भोजने ।
मक्षिका नेक्ष्यते सम्यक् का कथा मसकस्य तु ॥ ५३ ॥
तस्मात्संयमवृद्ध्यर्थं निशायां भोजनं त्यजेत् ।
शक्तितस्तच्चतुष्कं स्यादन्नाद्यन्यतमादि वा ॥ ५४ ॥
यत्रोषितं न भक्ष्यं स्यादन्नादि पलदोषतः ।
आसवारिष्टसन्धानाथानादीनां कथात्र का ॥ ५५ ॥
रूपगन्धरसस्पर्शाच्चलितं नैव भक्षयेत् ।
अवश्यं त्रसजीवानां निकोतानां समाश्रयात् ॥ ५६ ॥
दधितक्ररसादीनां भक्षणं वक्ष्यमाणतः ।
कालादर्वाक्, ततस्तूर्द्धं न भक्ष्यं तदभक्ष्यवत् ॥ ५७ ॥
इत्येवं पलदोषस्य दिग्मात्रं लक्षणं स्मृतम् ।
फलितं भक्षणादस्य वक्ष्यामि श्रृणुताधुना ॥ ५८ ॥
सिद्धान्ते सिद्धमेवैतत् सर्वतः सर्वदेहिनाम् ।
मांसांशस्याशनादेव भावः संक्लेशितो भवेत् ॥ ५९ ॥
न कदाचित् मृदुत्वं स्याद्योग्यं व्रतधारणे ।
द्रव्यतो कर्मरूपस्य तच्छक्तेरनतिक्रमात् ॥ ६० ॥
अनाद्यनिधना नूनमचिन्त्या वस्तुशक्तयः ।
न प्रतर्क्याः कुतर्कैर्यत् स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥ ६१ ॥
अयस्कान्तोपलाकृष्टसूचीवत्तद्द्वयोःपृथक् ।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धादिकारिणी ॥ ६२ ॥

न वाच्यमकिञ्चित्करं वस्तुबाह्यमकारणम् ।
धत्तूरादिविकाराणामिन्द्रियार्थेषु दर्शनात् ॥ ६३ ॥

उक्तं च ।

यद्वस्तुबाह्यं गुणदोषसूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः ।
अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ॥ ३ ॥

एवं मांसाशनाद्भावोऽवश्यं संक्लेशितो भवेत् ।
तस्मादसातबन्धः स्यात्ततो भ्रान्तिस्ततोऽसुखम् ॥ ६४ ॥
एतदुक्तं परिज्ञाय श्रद्धाय च मुहुर्मुहुः ।
ततो विरमणं कार्यं श्रावकैर्धर्मवेदिभिः ॥ ६५ ॥
मद्यं त्यक्तवतस्तस्य वच्म्यतीचारवर्जनम् ।
यत्त्यागेन भवेच्छुद्धः श्रावको ज्ञातस्वर्णवत् ॥ ६६ ॥
हृषीकज्ञानयुक्तस्य मादनान्[१]मद्यमुच्यते ।
ज्ञानाद्यावृत्तिहेतुत्वात्स्यात्तदवद्यकारणम् ॥ ६७ ॥
भङ्गाहिफेनधत्तूर खस्खसादिफलं च यत् ।
माद्यताहेतुरन्यद्वा सर्वं मद्यवदीरितम् ॥ ६८ ॥
एवमित्यादि यद्वस्तु सुरेव मदकारकम् ।
तन्निखिलं त्यजेद्धीमान् श्रेयसे ह्यात्मनो गृही ॥ ६९ ॥
दोषत्वं प्राग्मतिभ्रंशस्ततोमिथ्यावबोधनम् ।
रागादयस्ततः कर्म ततो जन्मेह क्लेशता ॥ ७० ॥
दिग्मात्र[२]मत्र व्याख्यातं तावन्मात्रैकहेतुतः ।
व्याख्यास्यामः पुरो व्यासा[३]त्तद्व्रतावसरे वयम्[४] ॥ ७१ ॥
माक्षिकं मक्षिकानां हि मांसासृक् पीडनोद्भवम् ।
प्रसिद्धं सर्वलोके स्यादागमेष्वपि सूचितम् ॥ ७२ ॥
न्यायात्तद्भक्षणे नूनं पिशिताशनदूषणम् ।
त्रसास्ता मक्षिका यस्मादामिषं तत्कलेवरम् ॥ ७३ ॥

---

१ उन्मादकारणात् । २ स्तोकमात्रम् । ३ विस्तरतः । ४ 'क' पुस्तके "स्वयम्" इतिपाठः ।

किञ्च तत्र निकोतादिजीवाः संसर्गजाः क्षणात् ।
सन्मूर्च्छिमा न मुञ्चन्ति तत्सङ्गं जातु कण्ठ्यवत् ॥ ७४ ॥
यथा पक्कं च शुष्कं वा पलं शुद्धं न जातुचित् ।
प्रासुकं न भवेत्क्वापि नित्यं साधारणं यतः ॥ ७५ ॥
अयमर्थो यथान्नादि कारणात्प्रासुकं भवेत् ।
शुष्कं वाप्यग्निपक्कं वा प्रासुकं न तथामिषम् ॥ ७६ ॥
प्राग्वदत्राप्यतीचाराः सन्ति केचिज्जिनागमात् ।
यथा पुष्परसः पीतः पुष्पाणामासवो यथा ॥ ७७ ॥
उदुम्बरफलान्येव नादेयानि दृगात्मभिः ।
नित्यं साधारणान्येव त्रसाङ्गैराश्रितानि च ॥ ७८ ॥
अत्रोदुम्बरशब्दस्तु नूनं स्यादुपलक्षणम् ।
तेन साधारणास्त्याज्या ये वनस्पतिकायिकाः ॥ ७९ ॥

उक्तं च ।

मूलग्गपोरबीआ साहा तह खंधकंदबीअरुहा ।
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ॥ ४ ॥

---

१ अस्यार्थः—येषां प्रत्येकवनस्पतीनां कन्दस्य वा मूलस्य वा शाखाया वा स्कन्धस्यापि वा त्वग्बहुलतरा स्थूलतरा भवन्ति तेषां अनन्तजीवाः अनन्तजीवैः निगोदजीवैः सहिताः प्रतिष्ठितप्रत्येकाः इत्यर्थः । तु पुनः येषां कन्दादीनां त्वक् तनुतरा अत्यल्पा ते अप्रतिष्ठितप्रत्येकाः भवन्ति । मूलं बीजं येषां ते मूलबीजाः आर्द्रकहरिद्रादयः, अग्रं बीजं येषां ते अग्रबीजाः आर्यकोदीच्यादयः । फरास-केतकीजात्यादयः । पर्व बीजं येषां ते पर्वबीजाः इक्षुवेत्रादयः । कन्दो बीजं येषां ते कन्दबीजाः पिण्डालु सूरणादयः । स्कन्धो बीजं येषां ते स्कन्धबीजाः सल्लकी कण्टकीपलाशादयः । बीजात् रोहन्तीति बीजरुहाः । शालिगोधूमादयः । सम्मूर्च्छे समंतात् प्रसृतपुद्गलस्कंधेन वा सम्मूर्च्छिमाः । अनन्तानन्तनिगोदजीवानां कायाः प्रतिष्ठितप्रत्येकाः । चशब्दात् अप्रतिष्ठितप्रत्येकाः सन्तीत्यर्थः । एते मूलबीजादि-सम्मूर्च्छिमपर्यन्ताः प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितप्रत्येकशरीरजीवास्तेपि सम्मूर्छिमा एव भवन्ति । प्रतिष्ठितं साधारणशरीरं आश्रित्य प्रत्येकं शरीरं येषां ते प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीराः अप्रतिष्ठितप्रत्येकशरीराः स्युः इति गाथार्थः ।

[1]साहारणमाहारं साहारणमाणपाणगहणं च ।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं ॥ ५ ॥
[2]जत्थेक्कमरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं ।
चंकमइ जत्थ इक्को चंकमणं[3] तत्थ णंताणं ॥ ६ ॥
मूलबीजा यथाप्रोक्ता फलकाद्याद्रकादयः ।
न भक्ष्या दैवयोगाद्वा रोगिणाप्यौषधच्छलात् ॥ ८० ॥
तद्भक्षणे महापापं प्राणिसन्दोहपीडनात् ।
सर्वज्ञाज्ञावलादेतद्दर्शनीयं दृगङ्गिभिः ॥ ८१ ॥
ननु केनानुमीयेत हेतुना पक्षधर्मता ।
प्रत्यक्षानुपलब्धित्वाज्जीवाभावोवधार्यते ॥ ८२ ॥
मैवं प्रागेव प्रोक्तत्वात्स्वभावोऽतर्क[4]गोचरः ।
तेन सर्वविदाज्ञायाः स्वीकर्तव्यं यथोदितत् ॥ ८३ ॥
नन्वस्तु तत्तदाज्ञाया पृष्ठुमीहामहे परम् ।
यदेकाक्षशरीराणां भक्ष्यत्वं प्रोक्तमर्हता ॥ ८४ ॥

---

१ यत्साधारणनामकर्मोदयवशवर्त्यनन्तजीवानां उत्पन्नप्रथमसमये आहारपर्याप्तिः तत्कार्यंचाहारवर्गणायातपुद्गलस्कन्धानां खलरसभागपरिणमनं साधारणसदृशं समकालं च भवति । तथा शरीरपर्याप्तिः तत्कार्यंचाहारवर्गणायातपुद्गलस्कन्धानां शरीराकार-परिणमनं । इन्द्रियपर्याप्तिः तत्कार्यं च स्पर्शनादीन्द्रियाकारपरिणमनम् । आनपान पर्याप्तिः तत्कार्यं च उच्छ्वासनिःश्वासग्रहणं । साधारणं समकालं च भवति । तथा प्रथमसमयोत्पन्नानामिव तत्रैव शरीरे द्वितीयादिसमयोत्पन्नानामप्यनन्तानन्तजीवानां पूर्वपूर्वसमयोत्पन्नानामनन्तानन्तजीवैः सहआहारपर्याप्त्यादिकं सर्वं सदृशं समकालं च भवति । तदिदं साधारणलक्षणं भणितम् । नि-नियमादनन्तसंख्यावच्छिन्नानां जीवानां गोदं क्षेत्रं स्थानं ददातीति निगोदं कर्म । तद्युक्ता जीवा निगोदा इत्युच्यंते । अथवा नियतानां अनन्तानन्तजीवानां एकां एव गां भूमिं क्षेत्रं निवासं ददातीति निगोदं तत् शरीरं येषां ते निगोदाः । एकोच्छ्वासनिःश्वासे अष्टादश वारं जन्म कृत्वा अष्टादशवारं मरणं कुर्वंति ॥ २ यत्र एकः म्रियते जीवः तत्र तु मरणं भवेत् अनन्तानाम् चंक्रमते यत्र एकः चंक्रमणं तत्र अनन्तानाम् । ३ आगमनम्—जन्म । ४ विचारगोचरो नास्ति ।

सत्यं बहुबधादत्र भक्ष्यत्वं नोक्तमर्हता ।
कुतश्चित्कारणादेव नोल्लंघ्यं जिनशासनम् ॥ ८५ ॥
एवं चेत्तत्र जीवास्ते कियन्तो वद कोविद ।
हेतोर्यदत्र सर्वज्ञैरभक्ष्यत्वमुदीरितम् ॥ ८६ ॥
घनाङ्गुलासंख्यभागभागैकं तद्वपुः स्मृतम् ।
तत्रैकस्मिन् शरीरे स्युः प्राणिनोऽनन्तसंज्ञिताः ॥ ८७ ॥

उक्तं च ।

एयणिगोयसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥ ७ ॥
इदमेवात्र तात्पर्यं तावन्मात्रावगाहके ।
केचिन्मिथोवगाहाः स्युरेकीभावादित्रापरे ॥ ८८ ॥

उक्तं च ।

जंबूदीवे भरहे कोसलसाकेय तग्घरायं च ।
खंधंडर आवासा पुलविसरीराणि दिट्ठंता ॥ ८ ॥
एतन्मत्वार्हता प्रोक्तमाजवंजवभीरुणा ।
कन्दादिलक्षणत्यागे कर्तव्या सुमतिः सती ॥ ८९ ॥
एवमन्यदपि त्याज्यं यत्साधारणलक्षणम् ।
त्रसाश्रितं विशेषेण तद्द्वियुक्तस्य का कथा ॥ ९० ॥
साधारणं च केषांचिन्मूलं स्कन्धस्तथागमात् ।
शाखाः पत्राणि पुष्पाणि पर्वदुग्धफलानि च ॥ ९१ ॥
तत्र व्यस्तानि केषांचित्समस्तान्यथदेहिनाम् ।
पापमूलानि सर्वाणि ज्ञात्वा सम्यक् परित्यजेत् ॥ ९२ ॥
मूलसाधारणास्तत्र मूलकाश्चाद्रकादयः ।
महापापप्रदाः सर्वे मूलोन्मूल्या गृहिव्रतैः ॥ ९३ ॥
स्कन्धपत्रपयः पर्व तुर्यसाधारणा यथा ।
गंडीरकस्तथा चार्कदुग्धं साधारणं मतम् ॥ ९४ ॥

पुष्पसाधारणाः केचित्करीरशर्षपादयः ।
पर्वसाधारणाश्चेक्षुदण्डाः साधारणाग्रकाः ॥ ९५ ॥
फलसाधारणं ख्यातं प्रोक्तोदुम्बरपञ्चकम् ।
शाखासाधारणा ख्याता कुमारीपिण्डकादयः ॥ ९६ ॥
कुंपलानि च सर्वेषां मृदूनि च यथागमम् ।
सन्ति साधारणान्येव प्रोक्तकालावधेरधः ॥ ९७ ॥
शाकाः साधारणाः केचित्केचित्प्रत्येकमूर्तयः ।
वल्यःसाधारणाःकाश्चित्काश्चित्प्रत्येकका: स्फुटम् ॥ ९८ ॥
तत्स्वरूपं परिज्ञाय कर्तव्या विरतिस्ततः ।
उत्सर्गात्सर्वतस्त्यागो यथाशक्त्यापवादतः ॥ ९९ ॥
शक्तितो विरतौ चापि विवेकः साधुरात्मनः ।
निर्विवेकात्कृतं कर्म विफलं चाल्पफलं भवेत् ॥ १०० ॥
कदाचिन्महतोऽज्ञानाद्दुर्दैवान्निर्विवेकिनाम्[1] ।
तत्केवलमनर्थाय कृतं कर्म शुभाशुभाम् ॥ १०१ ॥
यथात्र श्रेयसे केचिद्धिंसां कुर्वन्ति कर्मणि ।
अज्ञानात्स्वर्गहेतुत्वं मन्यमानाः प्रमादिनः ॥ १०२ ॥
तदवश्यं तत्कामेन[2] भवितव्यं विवेकिनाम् ।
देशतो वस्तुसंख्यायाः शक्तितो व्रतधारिणा ॥ १०३ ॥
विवेकस्यावकाशोस्ति देशतो विरतावपि ।
आदेयं प्रासुकं योग्यं नादेयं तद्विपर्ययम् ॥ १०४ ॥
न च स्वात्मेच्छया किंचिदात्तम्[3]आदेयमेव तत् ।
नात्तं यत्तदनादेयं भ्रान्तोन्मत्तकवाक्यवत् ॥ १०५ ॥
तस्माद्यत्प्रासुकं शुद्धं तुच्छहिंसाकरं शुभम् ।
सर्वं त्यक्तुमशक्येन ग्राह्यं तत्क्वचिदल्पशः ॥ १०६ ॥

---

१ दुष्कर्मयोगात् । २ विरतिसमीहकेन । ३ गृहीतम् ।

यावत्साधारणं त्याज्यं त्याज्यं यावत्त्रसाश्रितम् ।
एतत्त्यागे गुणोवश्यं संग्रहेऽस्वल्पदोषता ॥ १०७ ॥
ननु साधारणं यावत्तत्सर्वं लक्ष्यते कथम् ।
सत्यं जिनागमे प्रोक्ताल्लक्षणादेव लक्ष्यते ॥ १०८ ॥
तल्लक्षणं यथा भङ्गे समभागः प्रजायते ।
तावत्साधारणं ज्ञेयं शेषं प्रत्येकमेव तत् ॥ १०९ ॥
तत्राप्यत्यल्पीकरणं योग्यं योगेषु वस्तुषु ।
यतस्तृष्णानिवृत्यर्थमेतत्सर्वं प्रकीर्तितम् ॥ ११० ॥
इति संक्षेपतः ख्यातं साम्ना मूलगुणाष्टकम् ।
अर्थादुत्तरसंज्ञाश्च गुणाःस्युर्गृहमेधिनाम् ॥ १११ ॥
तांस्तानवसरे तत्र वक्ष्यामः स्वल्पविस्तरात् ।
इतः प्रसङ्गतो वक्ष्ये तत्सप्तव्यसनोज्झनम् ॥ ११२ ॥
द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः ।
महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद्बुधः ॥ ११३ ॥
अक्षपासादिनिक्षिप्तं वित्ताज्जयपराजयम् ।
क्रियायां विद्यते यत्र सर्वं द्यूतमिति स्मृतम् ॥ ११४ ॥
प्रसिद्धं द्यूतकर्मेदं सद्यो बन्धकरं स्मृतम् ।
यावदापन्मयं ज्ञात्वा त्याज्यं धर्मानुरागिणा ॥ ११५ ॥
तत्र बह्वः कथाः सन्ति द्यूतस्यानिष्टसूचिकाः ।
रतास्तत्र नराः पूर्वं नष्टा धर्मसुतादयः ॥ ११६ ॥
श्रूयते दृश्यते चैव द्यूतस्यैतद्विजृम्भितम् ।
दरिद्राः कर्तितोपाङ्गा नराः प्रास्ताधिकारकाः ॥ ११७ ॥
न वाच्यं द्यूतमात्रं स्यादेकं तद्व्यसनं मनाक् ।
चौर्यादि सर्वव्यसनपतिरेष न संशयः ॥ ११८ ॥

---

१ उत्तरगुणान् । २ फलम् ।

विद्यन्तेत्राप्यतीचारास्तत्समा इव केचन ।
जेतव्यास्तेपि दृग्मार्गे लग्नैः प्रत्यग्रबुद्धिभिः ॥ ११९ ॥
अन्योन्यस्येर्षया यत्र विजिगीषा द्वयोरिति ।
व्यवसायादृते[1] कर्म द्यूतातीचार इष्यते ॥ १२० ॥
यथाहं धावयाम्यत्र यूयं चाप्यत्र धावत ।
यदातिरिक्तं[2] गच्छेयं त्वत्तो गृह्णामि चेप्सितम् ॥ १२१ ॥
इत्येवमादयोप्यन्ये द्यूतातीचारसंज्ञिकाः ।
क्षपणीया क्षणादेव द्यूतत्यागोन्मुखैर्नरैः ॥ १२२ ॥
मांसस्य भक्षणे दोषाः प्रागेवात्र प्रपञ्चिताः ।
पुनरुक्तभयाद्भूयो नीता नोद्देशप्रक्रियाम् ॥ १२३ ॥
कर्म तत्र प्रवृत्तिः स्यादासक्तिर्व्यसनं महत् ।
प्रवृत्तिर्यत्र स्याज्या स्यादासक्तेस्तत्र का कथा ॥ १२४ ॥
मैरेयमपि[3] नादेयमित्युक्तं प्रागितो यतः ।
ततोद्य वक्तव्यतायां पिष्टपेषणदूषणम् ॥ १२५ ॥
प्राग्वदत्र विशेषोस्ति महानप्यविवक्षितः ।
सामान्यलक्षणाभावे तद्विशेषक्षतिर्[4]यथा ॥ १२६ ॥
प्रवृत्तिस्तु क्रियामात्रमासक्तिर्व्यसनं महत् ।
त्यक्तायां तत्प्रवृत्तौ वै का कथा सक्तिवर्जने ॥ १२७ ॥
तदलं बहुनोक्तेन तद्गन्धोऽवद्यकारणम् ।
स्मृतमात्रं हि तन्नाम धर्मध्वंसाय जायते ॥ १२८ ॥
पण्यस्त्री तु प्रसिद्धा या वित्तार्थं सेवते नरम् ।
तन्नाम दारिका दासी वेश्या पत्तननायिका ॥ १२९ ॥
तत्त्यागः सर्वतः श्रेयान् श्रेयोर्थं यततां[5] नृणाम् ।
मद्यमांसादिदोषान्वै निःशेषान् त्यक्तुमिच्छताम् ॥ १३० ॥
आस्तां तत्सङ्गमे दोषो दुर्गतौ पतनं नृणाम् ।
इहैव नरकं नूनं वेश्याव्यासक्तचेतसाम् ॥ १३१ ॥

१ विना । २ अधिकम् । ३ मद्यम् । ४ हानिः । ५ यत्नंकुर्वताम् ।

उक्तं च ।

या खादन्ति पलं पिबन्ति च सुरां जल्पन्ति मिथ्यावचः ।
स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठाक्षतिम् ।
नीचानामपि दूरवक्रमनसः पापात्मिका कुर्वते ।
लालापानमहर्निशं न नरकं वेश्यां विहायाऽपरम् ॥ ९ ॥
रजकशिलासदृशीभिः कुक्कुरकर्परसमानचरिताभिः ।
वेश्याभिर्यदिसङ्गः कृतमिव परलोकवार्ताभिः ॥ १० ॥
प्रसिद्धं बहुभिस्तस्यां प्राप्ता दुःखपरंपराः ।
श्रेष्ठिना चारुदत्तेन विख्यातेन यथा पराः ॥ १३२ ॥
यावान् पापभरो यादृग्दारिका दारिकर्मणः ।
कविनापि न वा तावान् कापि वक्तुं च शक्यते ॥ १३३ ॥
आस्तां च तद्व्रतादत्र चित्रकादिरुजो नृणाम् ।
नारकादिगतिभ्रान्तेर्यद् दुःखं जन्मजन्मनि ॥ १३४ ॥
न वाच्यमेकमेवैतत्तावन्मात्राल्पदोषतः ।
द्यूतादिव्यसनासक्तेः कारणं धर्मध्वंसकृत् ॥ १३५ ॥
सुगमत्वाद्धि विस्तारप्रयासो न कृतो मया ।
दोषः सर्वप्रसिद्धोत्र वावदूकतया कृतम् ॥ १३६ ॥
सन्ति तत्राप्यतीचाराश्चतुर्थव्रतवर्तिनः ।
निर्देक्ष्यामो वयं तांस्तान् तत्तत्रावसरे यथा ॥ १३७ ॥
ख्यातः पण्याङ्गनात्यागः संक्षेपादक्षप्रत्ययात् ।
आखेटकपरित्यागः साधीयानिति शस्यते ॥ १३८ ॥
अन्तर्भावोस्ति तस्यापि गुणाणुव्रतसंज्ञके ।
अनर्थदण्डत्यागाख्ये बाह्यानर्थक्रियादिवत् ॥ १३९ ॥
तत्तत्रवसरेऽवश्यं वक्ष्यामो नातिविस्तरात् ।
प्रसङ्गाद्वा तदत्रापि दिग्मात्रं वक्तुमर्हति ॥ १४० ॥

---

१ अतिवक्तृतया । २ अतिशयेन साधुः प्रसिद्धत्वात् ।

ननु चानर्थदण्डोस्ति भोगादन्यत्र याःक्रियाः ।
आत्मानन्दाय यत्कर्म तत्कथं स्यात्तथाविधम् ॥ १४१ ॥
यथा स्रक्चंदनं योषिद्वस्त्राभरणभोजनम् ।
सुखार्थं सर्वमेवैतत्तथाखेटक्रियापि च ॥ १४२ ॥
मैवं तीव्रानुभागस्य बन्धः प्रमादगौरवात् ।
प्रमादस्य निवृत्यर्थं स्मृतं व्रतकदम्बकम् ॥ १४३ ॥
स्रक्चंदनवनितादौ क्रियायां वा सुखाप्तये ।
भोगभावो सुखं तत्र हिंसा स्यादानुषङ्गिकी ॥ १४४ ॥
आखेटके तु हिंसायाः भावः स्याद्भूरिजन्मिनः ।
पश्चाद्दैवानुयोगेन भोगः स्याद्वा नवा क्वचित् ॥ १४५ ॥
हिंसानन्देन तेनोच्चैरौद्रध्यानेन प्राणिनाम् ।
नारकस्यायुषो बन्धः स्यान्निर्दिष्टो जिनागमे ॥ १४६ ॥
ततोवश्यं हि हिंसायां भावश्चानर्थदण्डकः ।
त्याज्यः प्रागेव सर्वेभ्यः संक्लेशेभ्यः प्रयत्नतः ॥ १४७ ॥
तत्रावान्तररूपस्य मृगयाभ्यासकर्मणः ।
त्यागः श्रेयानवश्यं स्यादन्यथाऽसातबन्धनम् ॥ १४८ ॥
अतीचारास्तु तत्रापि सन्ति पापानुयायिनः ।
यानपास्य व्रतिकोपि निर्मली भवति ध्रुवम् ॥ १४९ ॥
कार्यं विनापि क्रीडार्थं कौतुकार्थमथापि च ।
कर्तव्यमटनं नैव वापीकूपादिवर्त्मसु ॥ १५० ॥
पुष्पादिवाटिकासूच्चैर्वनेषूपवनेषु च ।
सरित्तडागक्रीडाद्रिसरःशून्यगृहादिषु ॥ १५१ ॥
शस्याधिष्ठानक्षेत्रेषु गोष्ठीनेष्वन्यवेश्मसु ।
कारागारगृहेषूच्चैर्मठेषु नृपवेश्मसु ॥ १५२ ॥

---

१ अनर्थदण्डाख्यम् । २ प्रसङ्गेनेद्भवा । ३ प्रचुरसंसारिणः । ४ क ख पुस्तकयोः "नारकस्यभ्युजोबन्धः" इतिपाठः ।

एवमित्यादिस्थानेषु विनाकार्यं न जातुचित् ।
कौतुकादिविनोदार्थं न गच्छेन्मृगयोज्झितः ॥ १५३ ॥
तस्करादिविघातार्थं स्थानेषु चण्डभीरुषु ।
योध्दुमुत्सुकभूपादियोग्यासु युद्धभूमिषु ॥ १५४ ॥
गीतनादविवाहादिनाट्यशालादिवेश्मषु ।
हिंसारम्भेषु कूपादिखननेषु च कर्म्मसु ॥ १५५ ॥
न कर्तव्या मतिर्धीरै स्वप्नमात्रे मनागपि ।
केवलं कर्मबन्धाय मोहस्यैतद्धि स्फूर्जितम् ॥ १५६ ॥
गच्छन्नप्यात्मकार्यार्थं गच्छेद् भूमिं विलोकयन् ।
युगदघ्नां दृशा सम्यगीर्यासंशुद्धिहेतवे ॥ १५७ ॥
तत्र गच्छन्न छिन्द्वेद्वा तरुपर्णफलादिकान् ।
पद्भ्यां दोर्भ्यां न कुर्वीत जलस्फालनकर्म च ॥ १५८ ॥
शर्करादिपरिक्षेपं प्रस्तरैर्भूमिकुट्टनम् ।
इतस्ततोऽटनं चापि क्रीडाकूर्दनकर्म च ॥ १५९ ॥
हिंसोपदेशमित्यादि न कुर्वीत विचक्षणः ।
प्राक्पदव्यामिवारूढः सर्वतोनर्थदण्डमुक् ॥ १६० ॥
व्याख्यातो मृगयादोषः सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् ।
अर्गलेवाऽव्रतादीनां व्रतादीनां सहोदरः ॥ १६१ ॥
अथ चौर्यव्यसनस्य त्यागः श्रेयानिति स्मृतः ।
तृतीयाणुव्रतस्यान्तर्भावी चाप्यत्र सूत्रितः ॥ १६२ ॥
तल्लक्षणं यथा सूत्रे निर्दिष्टं पूर्वसूरिभिः ।
यद्यददत्तादानं तत्स्तेयं स्तेयविवर्जितैः ॥ १६३ ॥
व्यसनं स्यात्तत्रासक्तिः प्रवृत्तिर्वा मुहुर्मुहुः ।
यद्वा व्रतादिना क्षुद्रैः परित्यक्तुमशक्यता ॥ १६४ ॥
सदेतद्व्यसनं नूनं निषिद्धं गृहमेधिनाम् ।
संसारदुःखभीरूणामशरीरसुखैषिणाम् ॥ १६५ ॥

तत्स्वरूपं प्रवक्ष्यामः पुरस्ताद्ल्पविस्तरात् ।
उच्यतेत्रापि दिग्मात्रं सोपतोगि प्रसङ्गसात् ॥ १६६ ॥
उक्तः प्राणिबधो हिंसा स्यादधर्मः स दुःखदः । पा
नार्थाज्जीवस्य नाशोस्ति किन्तु बन्धोत्र पीडा ॥ १६७ ॥
ततोऽवश्यं हि पापः स्यात्परस्वहरणे नृणाम् ।
यादृशं मरणे दुःखं तादृशं द्रविणक्षतौ ॥ १६८ ॥
एवमेतत्परिज्ञाय दर्शनश्रावकोत्तमैः ।
कर्तव्या न मतिः कापि परदारधनादिषु ॥ १६९ ॥
आस्तां परस्वस्वीकाराद्यद् दुःखं नारकादिषु ।
यदत्रैव भवेद् दुःखं तद्वक्तुं कः क्षमो नरः ॥ १७० ॥
चौर्यासक्तो नरोवश्यं नासिकादिक्षतिं लभेत् ।
गर्दभारोपणं चापि यद्वा पञ्चत्वमाप्नुयात् ॥ १७१ ॥
उद्विग्नो विघ्नशंकी च भ्रान्तोनवस्थचित्तकः ।
न क्षणं तिष्ठते स्वस्थः परवित्तहरो नरः ॥ १७२ ॥
परस्वहरणासक्तैः प्राप्तादुःखपरंपराः ।
श्रूयते तत्कथा शास्त्राच्छिवभूतिर्द्विजो यथा ॥ १७३ ॥
न केवलं हि श्रूयन्ते दृश्यन्तेऽत्र समक्षतः ।
यतोद्यापि चुरासक्तो निग्रहं लभते नृपात् ॥ १७४ ॥
सन्ति तत्राप्यतीचाराश्चौर्यत्यागव्रतस्य च ।
तानवश्यं यथास्थाने ब्रूमो नातिविस्तरात् ॥ १७५ ॥
अथान्ययोषिद्व्यसनं दूरतः परिवर्जयेत् ।
आशीर्विषमिवासां[1] यच्चरित्रं स्याज्जगत्त्रये ॥ १७६ ॥
तुर्याणुव्रते तस्यान्तर्भावः स्यादस्य लक्षणात् ।
लक्ष्यतेत्रापि दिग्मात्रं प्रसङ्गादिह साम्प्रतम् ॥ १७७ ॥

---

१ स्त्रीणाम् ।

देवशास्त्रगुरून्नत्वा बन्धुवर्गात्मसाक्षिकम् ।
पत्नी पाणिगृहीता स्यात्तदन्या चेटिका मता ॥ १७८ ॥
तत्र पाणिगृहीता या सा द्विधा लक्षणाद्यथा ।
आत्मज्ञातिः परज्ञातिः कर्मभूरूढिसाधनात् ॥ १७९ ॥
परिणीतात्मज्ञातिश्च धर्मपत्नीति सैव च ।
धर्मकार्ये हि सध्रीची यागादौ शुभकर्मणि ॥ १८० ॥
सूनुस्तस्याः समुत्पन्नः पितुर्धर्मेधिकारवान् ।
सः पिता तु परोक्षः स्याद्दैवात्प्रत्यक्ष एव वा ॥ १८१ ॥
सः सूनुः कर्मकार्येपि गोत्ररक्षादिलक्षणे ।
सर्वलोकाविरुद्धत्वादधिकारी नचेतरः ॥ १८२ ॥
परिणीतानात्मज्ञातिर्या पितृसाक्षिपूर्वकम् ।
भोगपत्नीति सा ज्ञेया भोगमात्रैकसाधनात् ॥ १८३ ॥
आत्मज्ञातिः परज्ञातिः सामान्य वनिता तु या ।
पाणिग्रहणशून्या चेच्चेटिका सुरतप्रिया ॥ ८४ ॥
चेटिका भोगपत्नी च द्वयोर्भोगाङ्गमात्रतः ।
लौकिकोक्तिविशेषोपि न भेदः पारमार्थिकः ।
भोगपत्नी निषिद्धा स्यात्सर्वतो धर्मवेदिनाम् ।
ग्रहणस्याविशेषेपि दोषो भेदस्य सम्भवात् ॥ ८६ ॥
अस्ति दोषविशेषोऽत्र जिनदृष्टश्च कश्चन ।
येन दास्याः प्रसङ्गेन वज्रलेपोघसंचयः ॥ १८७ ॥
भावेषु यदि शुद्धत्वं हेतुः पुण्यार्जनादिषु ।
एवं वस्तुस्वभावत्वात्तद्रतात्ताद्धि नश्यति ॥ १८८ ॥

उक्तं च ।

मुनिरेव हि जानाति द्रव्यसंयोगजं गुणम् ।
मक्षिका वमनं कुर्यात्तद्विट् छर्दिप्रणाशिनी ॥ ११ ॥
ननु यथा धर्मपत्न्यां यैव दास्यां क्रियैव सा ।
विशेषानुपलब्धेश्च कथं भेदोवधार्यते ॥ १८९ ॥

मैवं यतो विशेषोस्ति युक्तिस्वानुभवागमात् ।
दृष्टान्तस्यापि सिद्धत्वाद्धेतोः साध्यानुकूलतः ॥ ९० ॥
मैवं स्पर्शादि यद्वस्तु बाह्यं विषयसंज्ञिकम् ।
तद्धेतुस्तादृशो भावो जीवस्यैवास्ति निश्चयात् ॥ ९१ ॥
दृश्यते जलमेवैकमेकरूपं स्वरूपतः ।
चन्दनादिवनराजिं प्राप्य नानात्वमध्यगात् ॥ ९२ ॥
न च वाच्यमयं जीवः स्वायत्तः केवलं भवेत् ।
बाह्यवस्तु विनाश्रित्य जायते भावसन्ततिः ॥ ९३ ॥
ततो बाह्यनिमित्तानुरूपं कार्यं प्रमाणतः ।
सिद्धं तत्प्रकृतेऽप्यस्मिन्नास्ति भेदो हि लीलया ॥ ९४ ॥
अत्रा[1]भिज्ञानमप्यस्ति सर्वलोकाभिसम्मतम् ।
दासाः दास्याः सुता ज्ञेया तत्सुतेभ्योह्यना[2]दृशाः ॥ ९५ ॥
कृतं च बहुनोक्तेन सू[3]क्तं सर्वविदाज्ञया ।
स्वीकर्तव्यं गृहस्थेन दर्शनव्रतधारिणा ॥ ९६ ॥
भोगपत्नी निषिद्धा चेत्काकथा परयोषिताम् ।
तथाप्यत्रोच्यते किञ्चित्तत्स्वरूपाभि[4]व्यक्तये ॥ ९७ ॥
विशेषोस्ति मिथँश्चात्र परत्वैकत्वतोपि च ।
गृहीताचागृहीता च तृतीया नगराङ्गना ॥ ९८ ॥
गृहीतापि द्विधा तत्र यथाद्या जीवभर्तृका ।
सत्सु पित्रादिवर्गेषु द्वितीया मृतभर्तृका ॥ ९९ ॥
चेटिका या च विख्याता पतिस्तस्याःस एव हि ।
गृहीता सापि विख्याता स्यादगृहीता च तद्व[5]त् ॥ २०० ॥
जीवत्सु बन्धुवर्गेषु रण्डा स्यान्मृतभर्तृका ।
मृतेषु तेषु सैव स्यादगृहीता च स्वैरिणी ॥ २०१ ॥

---

१ परिचयः । २ अन्यदृशाः । ३ प्रमाणम् । ४ प्रकटनाय । ५ क पुस्तके “ स्यादगृहीतातद्वती ” इतिपाठः ।

अस्याः संसर्गवेलायामिङ्गिते नरि वैरिभिः ।
सापराधतया दण्डो नृपादिभ्यो भवेद्ध्रुवम् ॥ २०२ ॥
केचिज्जैना वदन्त्येवं गृहीतैषा स्वलक्षणात् ।
नृपादिभिर्गृहीतत्वान्नीतिमार्गानतिक्रमात् ॥ २०३ ॥
विख्यातो नीतिमार्गोयं स्वामी स्याज्जगतां नृपः ।
वस्तुतो यस्य न स्वामी तस्य स्वामी महीपतिः ॥ २०४ ॥
तन्मतेषु गृहीता सा पित्राद्यैरावृतापि या ।
यस्याः संसर्गतो भीतिर्जायते न नृपादितः ॥ २०५ ॥
तन्मते द्विधैव स्वैरी गृहीतागृहीतभेदतः ।
सामान्यवनिता या स्याद्गृहीतान्तर्भावतः ॥ २०६ ॥
एतत्सर्वं परिज्ञाय स्वानुभूतिसमक्षतः ।
पराङ्गनासु नादेया बुद्धिर्धीधनशालिभिः ॥ २०७ ॥
या निषिद्धास्ति शास्त्रेषु लोकेत्रातीव गर्हिता ।
सा श्रेयसी कुतोन्यस्त्री लोकद्वयहितैषिणाम् ॥ २०८ ॥
त्याज्यं वत्स परस्त्रीषु रतिं तृष्णोपशान्तये ।
विमृश्य चापदां चक्रं लोकद्वयविध्वंसिनीम् ॥ २०९ ॥
श्रूयन्ते वहवो नष्टाः परस्त्रीसङ्गलालसाः ।
ये दशास्यादयो नूनमिहामुत्र च दुःखिताः ॥ २१० ॥
श्रूयन्ते न परं तत्र दृश्यन्तेऽद्यापि केचन ।
रागाङ्गारेषु संदग्धाः दुःखितेभ्योपि दुःखिताः ॥ २११ ॥
आस्तां यन्नरके दुःखं भावतीव्रानुवेदिनाम् ।
जातं पराङ्गनासक्ते लोहाङ्गनादिलिङ्गनात् ॥ २१२ ॥
इहैवानर्थसन्दोहो यावानस्ति सुदुस्सहः ।
तावान्न शक्यते वक्तुमन्ययोषिन्मतेरितः ॥ २१३ ॥
आदावुत्पद्यते चिन्ता द्रष्टुं वक्तुं समीहते ।
ततः स्वान्तभ्रमस्तस्मादरतिर्जायते ध्रुवम् ॥ २१४ ॥

ततः क्षुत्तृड्विनाशः स्याद्वपुःकार्श्यं ततो भवेत् ।
ततः स्यादुद्यमाभावस्ततः स्याद्द्रविणक्षतिः ॥ २१५ ॥
उपहास्यं च लोकेस्मिन् ततःशिष्टेष्वमान्यता ।
इंगिते[1] राजदण्डः स्यात्सर्वस्वहरणात्मकः ॥ २१६ ॥
भवेद्वा मरणं मोहादन्यस्त्रीलीनचेतसः ।
चित्रं किमत्र रोगाणामुद्भवोपि भवेद् ध्रुवम् ॥ २१७ ॥
यद्वाऽमुत्रेह यद्दुःखं यावद्यादृक् च दुःस्सहम् ।
अन्यस्त्रीव्यसनासक्तः सर्वं प्राप्नोति निश्चितम् ॥ २१८ ॥
अस्मदीयमतं चैतद्दोषवित्ताद्धि मुञ्चति ।
न मुञ्चति तथा मन्दो ज्ञातदोषोपि मूढधीः ॥ २१९ ॥

इतिश्री स्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदविद्वन्माणेराजमल्ल विरचितायां श्रावकाचारापरनाम लाटीसंहितायां साधुश्री दूदात्मज फामनमनःसरोजारविन्दविकाशनैकमार्तण्ड मण्डलायमानायां दर्शनप्रतिमा महाधिकारमध्ये मूलगुणाष्टकप्रतिपाल सप्तव्यसनरोधवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ।

अथ तृतीयः सर्गः ।

दूदाङ्गजः फामननामधेयः
स्ववंशवेश्मज्वलदच्छदीपः ।
जीयाज्जिनेशांह्रिसरोरुहालि-
रस्यां कथायां रसिकावतंसः[1] ॥ १ ॥

इत्याशीर्वादः ।

सम्यक्त्वं दुर्लभं लोके सम्यक्त्वं मोक्षसाधनम् ।
ज्ञानचारित्रयोर्बीजं मूलं धर्मतरोरिव ॥ १ ॥

---

१ ज्ञाते सति । १ मुकुटः ।

तदेव सत्पुरुषार्थस्तदेव परमं पदम् ।
तदेव परमं ज्योतिः तदेव परमं तपः ॥ २ ॥

तदेवेष्टार्थसंसिद्धिस्तदेवास्ति मनोरथः ।
अक्षातीतं सुखं तत्स्यात्तत्कल्याणपरंपरा ॥ ३ ॥

विना येनात्र संसारे भ्रमतिस्म शरीरभाक् ।
भ्रमिष्यति तथानन्तं कालं भ्रमति संप्रति ॥ ४ ॥

अपि येन विना ज्ञानमज्ञानं स्यात्तदज्ञवत् ।
चारित्रं स्यात्कुचारित्रं तपो बालतपः स्मृतम् ॥ ५ ॥

अत्रातिविस्तरेणालं कर्म यावच्छुभात्मकम् ।
सर्वं तत्पुरतः सम्यक् सर्वं मिथ्या तदत्ययात् ॥ ६ ॥

तच्च तत्त्वार्थश्रद्धानं सूत्रे सम्यक्त्वलक्षणे ।
प्रामाणिकं तदेव स्याच्छ्रुतकेवलिभिर्मतम् ॥ ७ ॥

तत्त्वं जीवास्तिकायाद्यास्तत्स्वरूपोर्थसंज्ञकः ।
श्रद्धानं चानुभूतिः स्यात्तेषामेवेति निश्चयात् ॥ ८ ॥

सामान्यादेकमेवैतत्तद्विशेषविधेर्द्विधा ।
परोपचारसापेक्षाद्धेतोर्द्वैतवलादपि ॥ ९ ॥

तद्विशेषविधिस्तावन्निश्चयाद्व्यवहारतः ।
सम्यक्त्वं स्याद्द्विधा तत्र निश्चयश्चैकधा यथा ॥ १० ॥

शुद्धस्यानुभवः साक्षाज्जीवस्योपाधिवर्जितः ।
सम्यक्त्वं निश्चयान्नूनमर्थादेकविधं हि तत् ॥ ११ ॥

उक्तं च ।

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः ।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥ १ ॥

व्यवहाराच्च सम्यक्त्वं ज्ञातव्यं लक्षणाद्यथा ।
जीवादि सप्ततत्त्वानां श्रद्धानं गाढमव्ययम् ॥ १२ ॥

उक्तं च ।

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसि मधिगमो णाणं ।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो हु मोक्खपहो ॥ २ ॥
यद्वा व्यवहृते वाच्यं स्थूलं सम्यक्त्वलक्षणम् ।
आप्तागमधर्मादिश्रद्धानं दूषणोज्झितम् ॥ १३ ॥

उक्तं च ।

नास्ति चार्हत्परो देवो धर्मोनास्ति दयापरः ।
तपःपरं च नैर्ग्रन्थ्यमेतत्सम्यक्त्वलक्षणम् ॥ ३ ॥
हेतुतोपि द्विधोद्दिष्टं सम्यक्त्वं लक्षणाद्यथा ।
तन्निसर्गादधिगमादित्युक्तं पूर्वसूरिभिः ॥ १४ ॥
निसर्गस्तु स्वभावोक्तिः सोपायोधिगमो मतः ।
अर्थोयं शब्दमात्रत्वादर्थतः सूच्यतेऽधुना ॥ १५ ॥
नाम्ना मिथ्यात्वकर्मैकमस्ति सिद्धमनादितः ।
सम्यक्त्वोत्पत्तिवेलायां द्रव्यतस्तत्त्रिधा भवेत् ॥ १६ ॥
अधोऽपूर्वानिवृत्त्याख्यं प्रसिद्धं करणत्रयम् ।
करणान्तर्मुहूर्तस्य मध्ये त्रेधास्ति नान्यदा ॥ १७ ॥

उक्तं च ।

जंतेण कोदवं वा पढमुवसमसम्मभाव जंतेण ।
मिच्छादव्वं तु तिहा असंखगुणहीण दव्वकमा ॥ ४ ॥
त्रिधाभूतस्य तस्योच्चैरेवं मिथ्यात्वकर्मणः ।
भेदास्त्रयश्चतुष्कं च स्यादनन्तानुबन्धिनः ॥ १८ ॥
एतत्समुदितं प्रोक्तं दर्शनं मोहसप्तकम् ।
प्रागुपशमसम्यक्त्वे तत्सप्तोपशमो भवेत् ॥ १९ ॥

उक्तं च ।

पढमं पढमे णियदं पढमं विदियं च सव्वकालह्मि ।
खाइय सम्मत्तो पुण जच्छ जिणा केवलं तह्मि ॥ ५ ॥

निसर्गेऽधिगमे वापि सम्यक्त्वे तुल्यकारणम् ।
दृग्मोहसप्तकस्य स्यादुभयाभावसंज्ञकः ॥ २० ॥

उक्तं च ।

सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मो खयादुखइओय ।
विदिय कसाउदयादो असंजदो होदि सम्मो सो ॥ ६ ॥[1]

किन्तु सत्यन्तरङ्गेऽस्मिन् हेतावुत्पद्यते च यत् ।
नैसर्गिकं हि सम्यक्त्वं विनोदेशादि हेतुना ॥ २१ ॥
यत्पुनश्चान्तरङ्गेऽस्मिन् सति हेतौ तथाविधि ।
उपदेशादिसापेक्षं स्यादधिगमसंज्ञकम् ॥ २२ ॥
बाह्यं निमित्तमत्रास्ति केषाञ्चिद्बिम्बदर्शनम् ।
अर्हतामितरेषां तु जिनमहिमदर्शनम् ॥ २३ ॥
धर्मश्रवणमेकेषां यद्वा देवर्द्धिदर्शनम् ।
जातिस्मरणमेकेषां वेदनाभिभवस्तथा ॥ २४ ॥
एवमित्यादि बहवो विद्यन्ते बाह्यहेतवः ।
सम्यक्त्वप्रथमोत्पत्तावन्तरङ्गानतिक्रमात् ॥ २५ ॥
अस्यैतल्लक्षणं नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
जिनोक्तं श्रद्दधात्येव जीवाद्यर्थं यथास्थितम् ॥ २६ ॥

उक्तं च ।

णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥ ७ ॥

ननूल्लेखः[2] किमेतावानस्ति किं वाऽपरोऽ[3]प्यतः ।
लक्ष्यते येन सद्दृष्टिर्लक्षणेनाञ्चितः[4] पुमान् ॥ २७ ॥
अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यैश्च संलक्ष्यते सुदृक् ॥ २८ ॥

---

१ क्षीणोदयेषु मिथ्यात्वमिश्रानन्तानुबन्धिषु ।
लब्धोदये च सम्यक्त्वे क्षायिकोपशमं भवेत् ॥

२ एतावानूलक्षणकथनम् । ३ किंवा अन्यत् लक्षणम् । ४ युक्तः ।

उक्तमाक्षं[1] सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः ।
नादेयं कर्मसर्वस्वं तद्वद्दृष्टोपलब्धितः ॥ २९ ॥
सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम् ।
गोचरं वावधिस्वान्त[2]पर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥ ३० ॥
न गोचरं मतिज्ञानश्रुतविज्ञानयोर्मनाक् ।
नापि देशावधेस्तत्र विषयोऽनुपलब्धितः ॥ ३१ ॥
अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित्सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ।
तद्दृग्मोहोदयान्मिथ्यास्वादरूपमनादितः ॥ ३२ ॥
दैवात्कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे ।
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते[3] ॥ ३३ ॥
प्रयत्नमन्तरेणापि[4] दृग्मोहोपशमो भवेत् ।
अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात् ॥ ३४ ॥
अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृग्मोहोपशमाद् यथा ।
पुंसोऽवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पकैः ॥ ३५ ॥
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ।
सत्तारूपं पारिणामि[5] प्रदेशेषु परं चितः ॥ ३६ ॥
तत्रोल्लेखस्तमोनाशे तमोरेरिव[7] रश्मिभिः ।
दिशः प्रसादमासेदुः[8] सर्वतो विमलाशयाः ॥ ३७ ॥
दृग्मोहोपशमे सम्यग्दृष्टेरुल्लेख[9] एष वै ।
शुद्धत्वं सर्वदेशेषु त्रिधा बन्धापहारि यत् ॥ ३८ ॥
यथा वा मद्यधत्तूरपाकस्यास्तंगतस्य वै ।
उल्लेखो मूर्च्छितो जन्तुरुल्लाघः स्यादमूर्च्छितः ॥ ३९ ॥
दृग्मोहस्योदयान्मूर्च्छावैचित्र्यं वा तथा भ्रमः ।
प्रशान्ते तस्य मूर्च्छाया नाशाज्जीवो निरामयः ॥ ४० ॥

---

१ ऐन्द्रियिकम् । २ अवधिमनःपर्यययोः । ३ प्राप्नोति । ४ बिना । ५ ख ग पुस्तकयोः परिणामि इति पाठः । ७ सूर्यस्य । ८ निर्मलतांप्रापुः । ९ दृष्टान्तः इति उल्लेखः । ९ मनःशून्यत्वम् ।

श्रद्धानादिगुणाःबाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः ।
न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥ ४१ ॥
अपि चात्मानुभूतिश्च ज्ञानं ज्ञानस्यपर्ययात् ।
अर्थाद्ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्बाह्यलक्षणम् ॥ ४२ ॥
यथोल्लाघो[1] हि दुर्लक्ष्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः ।
वाग्मनःकायचेष्टाणामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥ ४३ ॥
नन्वात्मानुभवः साक्षात्सम्यक्त्वं वस्तुतःस्वयम् ।
सर्वतः सर्वकालस्य मिथ्यादृष्टेरसम्भवात् ॥ ४४ ॥
नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि सत्सामान्यविशेषयोः ।
अप्यनाकारसाकारलिङ्गयोस्तद्यथोच्यते ॥ ४५ ॥
आकारोऽर्थविकल्पःस्यादर्थःस्वपरगोचरः ।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥ ४६ ॥
नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता ।
शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥ ४७ ॥
नन्वस्ति वास्तवं सर्वं सामान्यं च विशेषवत् ।
तत्किञ्चित्स्यादनाकारं किञ्चित्साकारमेव तत् ॥ ४८ ॥
सत्यं सामान्यवद्ज्ञानमर्थाच्चास्ति विशेषवत् ।
यत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विशेषभाक् ॥ ४९ ॥
ज्ञानाद्विना गुणाःसर्वे प्रोक्तसल्लक्षणाङ्किताः ।
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सन्त्यनाकारलक्षणाः ॥ ५० ॥
ततोवक्तुमशक्यत्वान्निर्विकल्पस्य वस्तुनः ।
तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥ ५१ ॥
स्वापूर्वार्थद्वयोरेव[2] ग्राहकं ज्ञानमेकशः ।
नात्र ज्ञानमपूर्वार्थो ज्ञानं ज्ञानं परः परः ॥ ५२ ॥
स्वार्थोहि ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमेकं गुणश्चितः[3] ।
परार्थाः स्वात्मसम्बन्धिगुणाः शेषाः सुखादयः ॥ ५३ ॥

१ आरोग्यभावः । २ स्वपरार्थद्वयोरित्यपि पाठः । ३ आत्मनः ।

तद्यथा सुखदुःखादिभावो जीवगुणःस्वयम् ।
ज्ञानं तद्वेदकं नूनं नार्थाद्ज्ञानं सुखादिमत् ॥ ५४ ॥
अपि सन्ति गुणाः सम्यक् श्रद्धानादिविकल्पकाः ।
उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनोच्यते ॥ ५५ ॥
तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतयः ।
चरणं च यथाम्नायादर्थात्तत्त्वार्थगोचरम् ॥ ५६ ॥
तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा ।
प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकारश्चरणं क्रिया ॥ ५७ ॥
अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञानं ज्ञानस्यैवार्थपर्ययात् ।
क्रिया वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु ॥ ५८ ॥
व्यस्ताश्चैते समस्ता वा सद्दृष्टेर्लक्षणं न वा ।
सपक्षे वा विपक्षे वा सन्ति यद्वा न सन्ति वा ॥ ५९ ॥
स्वानुभूतिसनाथाश्चेत्सन्ति श्रद्धादयो गुणाः ।
स्वानुभूतिं विनाभासाः नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥ ६० ॥
तस्माच्छ्रद्धादयःसर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिवत् ।
न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवत्स्वितः ॥ ६१ ॥
सम्यग्मिथ्याविशेषाभ्यां विना श्रद्धादिमात्रकाः ।
सपक्षवद्विपक्षेपि वृत्तित्वाद् व्यभिचारिणः ॥ ६२ ॥
अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्दृष्टिश्रद्धादयो यतः ।
मिथ्याश्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो यतः ॥ ६३ ॥
ननु तत्त्वरुचिःश्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात् ।
सम्यग्मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तु कुतोऽर्थतः ॥ ६४ ॥
नैवं यतः समव्याप्तिः श्रद्धास्वानुभवद्वयोः ।
नूनं नानुपलब्धार्थे श्रद्धा खरविषाणवत् ॥ ६५ ॥
विना स्वात्मानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः ।
तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धितः ॥ ६६ ॥

१ भिन्ना भिन्नाः । २ अप्राप्ते वस्तुनि ।

लब्धिःस्यादविशेषाद्वा सदसतोरुन्मत्तवत् ।
नोपलब्धिरिहाख्याता तच्छेषानुपलब्धिवत् ॥ ६७ ॥
ततोस्ति यौगिकी रूढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम् ।
अर्थादप्यविरुद्धं स्यात्सूक्तं स्वात्मानुभूतिवत् ॥ ६८ ॥
गुणाश्चान्ये प्रसिद्धा ये सद्दृष्टेः प्रशमादयः ।
बहिर्दृष्ट्या यथा स्वं ते सन्ति सम्यक्त्वलक्षणम् ॥ ६९ ॥
तत्राद्यःप्रशमो नाम संवेगश्च गुणः क्रमात् ।
अनुकम्पा तथास्तिक्यं वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥ ७० ॥
प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च ।
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥ ७१ ॥
सद्यः कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित् ।
तद्वधादिविकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥ ७२ ॥
हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुबन्धिनाम् ।
अपि शेषकषायाणां नूनं मन्दोदयोंऽशतः ॥ ७३ ॥
आरम्भादि क्रिया तस्य दैवाद्वा स्यादकामतः ।
अन्तः शुद्धेः प्रसिद्धत्वान्नहेतुः[1] प्रशमक्षतेः ॥ ७४ ॥
सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः ।
अन्यत्र प्रशमं मन्ये प्याभासः स्यात्तदत्ययात् ॥ ७५ ॥
संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः ।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥ ७६ ॥
धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धास्यानुभवोऽथवा ।
तत्फलं सुखमत्यक्षमक्षयं क्षायिकं च यत् ॥ ७७ ॥
इतरत्र[2] पुनारागस्तद्गुणेष्वनुरागतः ।
नातद्गुणोनुरागोपि तत्फलस्याप्यालिप्सया ॥ ७८ ॥
अत्रानुरागशब्देन नाभिलाषो निरुच्यते ।
किन्तु शेषमधर्माद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि ॥ ७९ ॥

१ प्रशमनाशहेतुर्न भवति । २ मिथ्यादृष्टौ ।

नचाशङ्क्यं निषिद्धः स्यादभिलाषो भोगेष्वलम् ।
शुद्धोपलब्धिमात्रेपि हेयो भोगाभिलाषवत् ॥ ८० ॥
अर्थात्सर्वोभिलाषः स्यान्मिथ्या कर्मोदयात्परम् ।
स्वार्थस्यार्थक्रियासिद्ध्यै नालं प्रत्यक्षतो यतः ॥ ८१ ॥
क्वचित्तस्यापि सद्भावे नेष्टासिद्धिरहेतुतः ।
अभिलाषस्याभावेऽपि स्वेष्टसिद्धिस्तुहेतुतः ॥ ८२ ॥
यशःश्रीसुतमित्रादि सर्वं कामयते जगत् ।
नास्य लाभोऽभिलाषेऽपि विना पुण्योदयात्सतः ॥ ८३ ॥
जरामृत्युदरिद्रादि नापि कामयते जगत् ।
तत्संयोगो बलादस्ति सतस्तत्राशुभोदयात् ॥ ८४ ॥
संवेगो विधिरूपः स्यान्निर्वेदस्तु विशेषसात् ।
स्याद्विवक्षावशाद्द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयोः ॥ ८५ ॥
त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा ।
संवेगोऽप्यथवा धर्मसाभिलाषो न धर्मवान् ॥ ८६ ॥
नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः ।
नित्यं रागादिसद्भावात्प्रत्युताऽधर्मएव हि ॥ ८७ ॥
नित्यं रागी कुदृष्टिः स्यान्नस्यात्क्वचिदरागवान् ।
अस्तरागोस्ति सद्दृष्टिर्नित्यं वा स्यान्नरागवान् ॥ ८८ ॥
अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः ।
मैत्रभावोथ माध्यस्थ्यं निःशल्यं वैरवर्जनात् ॥ ८९ ॥
दृग्मोहानुदयस्तत्र हेतुर्वाच्योस्तिकेवलम् ।
मिथ्याज्ञानं विना न स्याद्वैरभावः क्वचिद्यथा ॥ ९० ॥
मिथ्या यत्परतः स्वस्य स्वस्माद्वा परजन्मिनाम् ।
इच्छेत्तत्सुखदुःखादि मृत्युर्वा जीवितं मनाक् ॥ ९१ ॥
अस्ति यस्यैतदज्ञानं मिथ्यादृष्टिः सः शल्यवान् ।
अज्ञानाद्धंतुकामोपि क्षमो हंतुं न चापरम् ॥ ९२ ॥

समता सर्वभूतेषु यानुकम्पा परत्र सा ।
अर्थतः स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्यवर्जनात् ॥ ९३ ॥
रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे बन्ध एव हि ।
न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेया कृपात्मनि ॥ ९४ ॥
आस्तिक्यं सत्त्वसद्भावे स्वतः सिद्धे गतिश्चितः ।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चात्मादि धर्मवित् ॥ ९५ ॥
अस्त्यात्मा जीवसंज्ञो यः स्वतःसिद्धोप्यमूर्तिमान् ।
चेतनः स्यादजीवस्तु यावानप्यस्त्यचेतनः ॥ ९६ ॥
अस्त्यात्मानादितो बद्धः कर्मभिः कार्मणात्मकैः ।
कर्ता भोक्ता च तेषां हि तत्क्षयान्मोक्षभाग्भवेत् ॥ ९७ ॥
अस्ति पुण्यं च पापं च तद्धेतुस्तत्फलं च वै ।
आस्रवाद्यास्तथा सन्ति तस्य संसारिणोऽनिशम् ॥ ९८ ॥
अस्त्येवं पर्ययादेशाद्बन्धो मोक्षस्तु तत्फलम् ।
अपि शुद्धनयादेशात् शुद्धः सर्वोपि सर्वदा ॥ ९९ ॥
तत्रायं जीवसंज्ञो यः स्वयंवेद्यश्चिदात्मकः ।
सोहमन्ये तु रागाद्याः हेयाः पौद्गलिका अमी ॥ १०० ॥
इत्याद्यनादिजीवादि वस्तुजातं यतोऽखिलम् ।
निश्चयव्यवहाराभ्यामास्तिक्यं तत्तथामतिः ॥ १०१ ॥
सम्यक्त्वेनाविनाभूतस्वानुभूत्येकलक्षणम् ।
आस्तिक्यं नाम सम्यक्त्वं मिथ्यास्तिक्यं ततोन्यथा ॥ १०२ ॥
ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः ।
न प्रत्यक्षं कदाचित्तच्छेषज्ञानचतुष्टयम् ॥ १०३ ॥
यदि वा देशतोध्यक्षमाक्ष्यं स्वात्मसुखादिवत् ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोर्थतः ॥ १०४ ॥
सत्यमाद्यद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि ।
प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृग्मोहोपशमादितः ॥ १०५ ॥

१ प्रतीतिः ।

स्वात्मानुभूतिमात्रं स्यादास्तिक्यं परमो गुणः ।
भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रे परत्वतः ॥ १०६ ॥
अपि तत्र परोक्षत्वे जीवादौ परवस्तुनि ।
गाढं प्रतीतिरस्यास्ति यथा सम्यग्दृगात्मनः ॥ १०७ ॥
न तथास्ति प्रतीतिर्वा नास्ति मिथ्यादृशःस्फुटम् ।
दृग्मोहस्योदयात्तत्र भ्रान्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥ १०८ ॥
ततः सिद्धमिदं सम्यग्युक्तिस्वानुभवागमात् ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतं सत्रास्तिक्यं गुणो महान् ॥ १०९ ॥

उक्तं च ।

संवेओ निव्वेओ णिंदण गरहा य उवसमो भत्ती ।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते ॥ ८ ॥
उक्तं गाथार्थसूत्रेपि प्रशमादिचतुष्टयम् ।
नातिरिक्तं यतोऽस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥ ११० ॥
अस्त्युपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम् ।
तद्यथास्त्यादिलक्ष्यस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत् ॥ १११ ॥
यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः ।
सचोपलक्ष्यते भक्त्या वात्सल्येनाथवार्हताम् ॥ ११२ ॥
तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात् ।
वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः ॥ ११३ ॥
भक्तिर्वा नाम वात्सल्यं न स्यात्संवेगमन्तरा ।
संवेगो हि दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणौ ॥ ११४ ॥
दृग्मोहस्योदयाभावात्प्रसिद्धः प्रशमो गुणः ।
तत्रापि व्यञ्जकं बाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम् ॥ ११५ ॥
निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि ।
पश्चात्तापकरो बन्धो नोपेक्ष्यो नाप्यपेक्षितः ॥ ११६ ॥

---

१ अन्यत् न । २ संवेगः ।

गर्हणं तत्परित्यागः पञ्चगुर्वात्मसाक्षिकः ।
निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये ॥ ११७ ॥
अर्थादेव द्वयं सूक्तं सम्यक्त्वस्योपलक्षणम् ।
प्रशमस्य कषायाणामनुद्रेकाविशेषतः ॥ ११८ ॥
शेषमुक्तं यथाम्नायाद् ज्ञातव्यं परमागमात् ।
आगमाब्धेः परंपारं माहग्गन्तुं क्षमः कथम् ॥ ११९ ॥
एवमित्यादिसत्यार्थं प्रोक्तं सम्यक्त्वलक्षणम् ।
कैश्चिल्लक्षणिकैः सिद्धैः प्रसिद्धं सिद्धसाधनात् ॥ १२० ॥
भवेद्दर्शनिको नूनं सम्यक्त्वेन युतो नरः ।
दर्शनप्रतिमाभासः क्रियावानपि तद्विना ॥ १२१ ॥
देशतः सर्वतश्चापि क्रियारूपं व्रतादि यत् ।
सम्यक्त्वेन विना सर्वमव्रतं कुतपश्च तत् ॥ १२२ ॥
ततः प्रथमतोऽवश्यं भाव्यं सम्यक्त्वधारिणा ।
अव्रतिनाणुव्रतिना मुनिनाथेन सर्वतः ॥ १२३ ॥
ऋते सम्यक्त्वभावं यो धत्ते व्रततपःक्रियाम् ।
तस्य मिथ्यागुणस्थानमेकं स्यादागमे स्मृतम् ॥ १२४ ॥
प्रकृतोपि[1] नरो नैव मुच्यते कर्मबन्धनात् ।
सएव मुच्यतेऽवश्यं यदा सम्यक्त्वमश्नुते ॥ १२५ ॥
किञ्च प्रोक्ता क्रियाप्येषा दर्शनप्रतिमात्मिका ।
सम्यक्त्वेन युता चेत्सा तद्गुणस्थानवर्तिना ॥ १२६ ॥
तत्राप्यस्ति विशेषोऽयंतुर्यपञ्चमयोर्द्वयोः ।
योगाद्वा रूढितश्चापि गुणस्थानाविशेषयोः ॥ १२७ ॥
सैवैका क्रिया साक्षादष्टमूलगुणात्मिका ।
व्यसनाद्युज्झिता चापि दर्शनेन समन्विता ॥ १२८ ॥

१ पण्डितोपि ।

एवमेव च सा चेत्स्यात्कुलाचारक्रमात्परम् ।
विना नियमादि तावत्प्रोच्यते सा कुलक्रिया ॥ १२९ ॥
भावशून्याः क्रिया यस्मान्नेष्टसिध्द्यै भवन्ति हि ।
क्रियामात्रफलं चास्ति स्वल्पभोगानुषङ्गजम् ॥ १३० ॥
दर्शनप्रतिमा नास्य गुणस्थानं न पञ्चमम् ।
केवलं पाक्षिकः सः स्याद्गुणस्थानादसंयतः ॥ १३१ ॥
किञ्च सोपि क्रियामात्रात्कुलाचारक्रमागतात् ।
स्वर्गादिसम्पदोभुक्त्वाक्रमाद्याति शिवालयम् ॥ १३२ ॥
सम्यक्त्वेन विहीनोऽपि नियमेनाप्यथोज्झितः ।
योपि कुलक्रियासक्तः स्वर्गादिपदभाग्भवेत् ॥ १३३ ॥
अथ क्रियां च तामेव कुलाचारोचितां पराम् ।
व्रतरूपेण गृह्णाति तदा दर्शनिको मतः ॥ १३४ ॥
दर्शनप्रतिमा चास्य गुणस्थानं च पञ्चमम् ।
संयतासंयताख्यश्च संयमोस्य जिनागमात् ॥ १३५ ॥
दृगाद्येकादशान्तानां प्रतिमानामनादितः ।
पञ्चमेन गुणेनामा व्याप्तिः साधीयसी स्मृतेः ॥ १३६ ॥
ननु या प्रतिमा प्रोक्ता दर्शनाख्या तदादिमा ।
जैनानां सास्ति सर्वेषामर्थादव्रतिनामपि ॥ १३७ ॥
मैवं सति तथा तुर्य-गुणस्थानस्य शून्यता ।
नूनं दृग्प्रतिमा यस्माद्गुणे पञ्चमके मता ॥ १३८ ॥
नोह्यं दृग्प्रतिमामात्रमस्तु तुर्यगुणे नृणाम् ।
व्रतादिप्रतिमाःशेषाः सन्तु पञ्चमके गुणे ॥ १३९ ॥
मैवं सति नियमादावव्रतित्वं कुतोऽर्थतः ।
व्रतादिप्रतिमासूच्चैरव्रतित्वानुषङ्गतः ॥ १४० ॥
ततो विवक्षितं साधु सामान्यात्सा कुलक्रिया ।
नियमेन सनाथा चेद्दर्शनप्रतिमात्मिका ॥ १४१ ॥

१ अव्रतप्रसङ्गतः ।

किञ्च मूलगुणादीनामादानेऽथापि वर्जने ।
समस्ते प्रतिमास्त्याद्या व्यस्तेसति कुलक्रिया ॥ १४२ ॥
यथा चैकस्य कस्यापि व्यसनस्योज्झने कृते ।
दर्शनप्रतिमा न स्यात्स्याद्वा साध्वी कुलक्रिया ॥ १४३ ॥
यदा मूलगुणादानं द्यूतादिव्यसनोज्झनम् ।
दर्शनं सर्वतश्चैतत्त्रयं स्यात्प्रतिमादिमा ॥ १४४ ॥
दर्शनप्रतिमायास्तु कियाया व्रतरूपतः ।
तस्याः कुलक्रियायाश्चाविशेषोप्यस्ति लेशतः ॥ १४५ ॥
प्रमादोद्रेकतोवश्यं सदोषाःस्यात्कुलक्रियाः ।
निर्दोषाः स्वल्पदोषा वा दर्शनप्रतिमाक्रियाः ॥ १४६ ॥
यथा कश्चित्कुलाचारी द्यूतातिव्यसनोज्झनम् ।
कुर्याद्वा न यथेच्छायां कुर्यादेव दृगात्मकः ॥ १४७ ॥
अथ च पाक्षिको यद्वा दर्शनप्रतिमान्वितः ।
प्रकृतं न परं कुर्यात्कुर्याद्वा वक्ष्यमाणकम् ॥ १४८ ॥
प्रामाणिकः क्रमोप्येष ज्ञातव्यो व्रतसंचये ।
भावना चागृहीतस्य व्रतस्यापि न दूषिका ॥ १४९ ॥
भावयेद्भावनां नूनमुपर्युपरि सर्वतः ।
यावन्निर्वाणसंप्राप्तौ पुंसोवस्थान्तरं भवेत् ॥ १५० ॥

उक्तं च ।

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्कइ तहेव सद्दहणं ।
सद्दहणमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं ॥ १ ॥

यथात्र पाक्षिकः कश्चिद्दर्शनप्रतिमोऽथवा ।
उपर्युपरि शुद्ध्यर्थं यद्यत्कुर्यात्तदुच्यते ॥ १५१ ॥
सर्वतोविरतिस्तेषां हिंसादीनां व्रतं महत् ।
नैतत्सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिङ्गमर्हताम् ॥ १५२ ॥

१ व्यसनानाम् ।

मूलोत्तरगुणाः सन्ति देशतो वेश्मवर्तिनाम् ।
तथानगारिणां न स्युः सर्वतः स्युः परेऽथ ते ॥ १५३ ॥
तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम् ।
क्वचिदव्रतिनां यस्मात्सर्वसाधारणा इमे ॥ १५४ ॥
निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाःस्फुटम् ।
तद्विनापि व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च गुणोङ्गिनाम् ॥ १५५ ॥
एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः ।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथ वा ॥ १५६ ॥
मद्यमांसमधुत्यागी यथोदुम्बरपञ्चकम् ।
नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथापि तथा गृही ॥ १५७ ॥
यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम् ।
अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भिः श्रेयसीं क्रियाम् ॥ १५८ ॥
त्यजेद्दोषांस्तु तत्रोक्तान् सूत्रेऽतीचारसंज्ञकान् ।
अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत् ॥ १५९ ॥
दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याथ श्रद्धया ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ॥ १६० ॥
कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम् ।
पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया ॥ १६१ ॥
शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादि पीडितेभ्योऽशुभोदयात् ।
दीनेभ्योऽभयदानादि दातव्यं करुणार्णवैः ॥ १६२ ॥
पूजामप्यर्हतां कुर्याद्यद्वा तत्प्रतिमासु च ।
स्वरव्यञ्जनान् संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधीः ॥ १६३ ॥
सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरस्तात्पादयोः स्तुतिम् ।
प्राग्विधायाष्टधा पूजां विदध्यात्स त्रिशुद्धितः ॥ १६४ ॥

---

१ तथानगारिणां ते + स्युः सर्वतः स्युः * परेऽपि ते । + मूलगुणाः । * उत्तरगुणाः । इत्यपि वा पाठः ।

सन्मानादि यथाशक्ति कर्तव्यं च सधर्मिणाम् ।
व्रतिनां चेतरेषां वा विशेषाद् ब्रह्मचारिणाम् ॥ १६५ ॥
नारिभ्योपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे ।
देयं सन्मानदानादि लोकानामविरोधतः ॥ १६६ ॥
जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे सावधानता ।
यथासम्यद्विधेयास्ति दूष्या नावद्यलेशतः ॥ १६७ ॥
सिद्धानामर्हतां चापि यन्त्राणि प्रतिमाः शुभाः ।
चैत्याभ्रयेषु संस्थाप्य द्राक् प्रतिष्ठापयेत्सुधीः ॥ १६८ ॥
अपि तीर्थादियात्रासु विदध्यात्सोद्यतं मनः ।
श्रावकः स च तत्रापि संयमं न विराधयेत् ॥ १६९ ॥
नित्ये नैमित्तिके चैत्याजिनविम्बमहोत्सवे ।
शैथिल्यं नैव कर्तव्यं तत्त्वज्ञैस्तद्विशेषतः ॥ १७० ॥
संयमो द्विविधश्चैव विधेयो गृहमेधिभिः ।
विनापि प्रतिमारूपं व्रतं यद्वा स्वशक्तितः ॥ १७१ ॥
तपो द्वादशधा द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
कृत्स्नमन्यतमं वा तत्कार्यं चानतिवीर्यवान् ॥ १७२ ॥
उक्तं दिग्मात्रतोप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतम् ।
वक्ष्ये चोपासकाध्यायं सावकाशं सविस्तरम् ॥ १७३ ॥

इति श्री स्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिराज-
मल्लविरचितायां श्रावकाचारापरनामलाटीसंहितायां
साधूश्री दूदात्मजफामनमनःसरोजारविन्द
विकाशनैकमार्तण्डमण्डलायमानायां दर्शन-
प्रतिमाधिकारमध्ये सम्यग्दर्शनसामान्य-
लक्षणवर्णनो नाम तृतीयः सर्गः ।

अथ चतुर्थः सर्गः ।

इदमिदं तव भो वनिजांपते
भवतु भावितभावसुदर्शनम् ।
विदितफामननाममहामते
रसिकधर्मकथासु यथार्थतः ॥ १ ॥

इत्याशीर्वादः ।

ननु सुदर्शनस्यैतल्लक्षणं स्यादशेषतः ।
किमथास्त्यपरं किञ्चल्लक्षणं तद्वदाद्य नः ॥ १ ॥
सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमस्ति सिद्धं जगत्त्रये ।
लक्षणं च गुणश्चाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥ २ ॥
निःशङ्कितं तथा नामा निःकांक्षितमतः परम् ।
विचिकित्सावर्जं चापि यथादृष्टेरमूढता ॥ ३ ॥
उपबृंहणनामाथ सुस्थितीकरणं तथा ।
वात्सल्यं च यथाम्नायाद्गुणोप्यस्ति प्रभावना ॥ ४ ॥
शङ्का भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी ।
तस्या निष्क्रान्तितो जातो भावो निःशङ्कितोर्थतः ॥ ५ ॥
अर्थवशादत्र सूत्रार्थे शङ्का न स्यान्मनीषिणाम् ।
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः सन्ति चास्तिक्यगोचराः ॥ ६ ॥
तत्र धर्मादयः सूक्ष्माः सूक्ष्माः कालाणवोऽणवः ।
अस्ति सूक्ष्मत्वमेतेषां लिङ्गस्याक्षैर्[1]रदर्शनात् ॥ ७ ॥
अन्तरिता[2] यथा द्वीपसरिन्नाथनगाधिपाः ।
दूरार्था भाविनोऽतीता रामरावणचक्रिणः ॥ ८ ॥
न स्यान्मिथ्यादृशो ज्ञानमेतेषां काप्यसंशयम् ।
संशयादथ हेतोर्वै दृग्मोहस्योदयात्सतः ॥ ९ ॥

---

१ इन्द्रियैः । २ अंतरिताः कालविप्रकृष्टाः, दूरार्थाः देशविप्रकृष्टाः इति ग्रन्थान्तरेषु ।

नचाशङ्क्यं परोक्षास्ते सद्दृष्टेर्गोचराः कुतः ।
तैः सह सन्निकर्षस्य साक्षिकस्याप्यसम्भवात् ॥ १० ॥
अस्ति तत्रापि सम्यक्त्वमाहात्म्यं महतां महत् ।
यदस्य जगतो ज्ञानमस्त्यास्तिक्यपुरस्सरम् ॥ ११ ॥
नासम्भवमिदं यस्मात्स्वभावोऽतर्कगोचरः ।
अतिशयोऽतिवागास्ति योगिनां योगिशक्तिवत् ॥ १२ ॥
अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम् ॥ १३ ॥
यत्रानुभूयमानोऽपि सर्वैराबालमात्मनि ।
मिथ्याकर्मविपाकाद्वै नानुभूतिः शरीरिणाम् ॥ १४ ॥
सम्यग्दृष्टेः कुदृष्टेश्च स्वादुभेदोस्ति वस्तुनि ।
न तत्र वास्तवो भेदो वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥ १५ ॥
अत्र तात्पर्यमेवैतत्तत्त्वैकत्वेपि यो भ्रमः ।
शङ्कायाः सोऽस्त्यपराधो सास्तिमिथ्योपजीविनी ॥ १६ ॥
ननु शङ्काकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो नृणाम् ।
सा शङ्कापि कुतो न्यायादस्ति मिथ्योपजीविनी ॥ १७ ॥
अत्रोत्तरं कुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्युतः ।
नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः सप्तभिः स भयैर्मनाक् ॥ १८ ॥
परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी ।
भीतिः पर्यायमूढानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम् ॥ १९ ॥
ततो भीत्यानुमेयोस्ति मिथ्या भावो जिनागमात् ।
सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतोः स्वानुभवक्षतेः ॥ २० ॥
अस्ति सिद्धं परायत्तो भीतः स्वानुभवच्युतः ।
स्वस्थस्य स्वाधिकारित्वान्नूनं भीतेरसम्भवात् ॥ २१ ॥
ननु सन्ति चतस्रोपि संज्ञास्तस्यास्य कस्यचित् ।
अर्वाक् तत्तत्स्थितिच्छेदस्थानादस्तित्वसम्भवात् ॥ २२ ॥

१ ऐन्द्रियकस्य ।

तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि ।
अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रमत्तवान् ॥ २३ ॥
सत्यं भीतोऽपि निर्भीकस्तत्स्वामित्वाद्यभावतः ।
रूपिद्रव्यं यथा चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ॥ २४ ॥
सन्ति संसारिजीवानां कर्मांशाश्चोदयागताः ।
मुह्यन् रज्यन् द्विषंस्तत्र तत्फलेनोपयुज्यते ॥ २५ ॥
एतेन हेतुना ज्ञानी निःशङ्को न्यायदर्शनात् ।
देशतोऽप्यत्र मूर्च्छाया शङ्काहेतोरसम्भवात् ॥ २६ ॥
स्वात्मसंचेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते ।
येन कर्मापि कुर्वाणो कर्मणा नोपयुज्यते ॥ २७ ॥
तत्र भीतिरिहामुत्रलोके वा वेदनाभयं ।
चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पञ्चमी ॥ २८ ॥
भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युर्भीतिराकस्मिकी ततः ।
क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैताः भीतयः स्मृताः ॥ २९ ॥
तत्रेह लोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्रजन्मनि ।
इष्टार्थस्य व्ययो माभून्मा मेऽनिष्टार्थसङ्गमः ॥ ३० ॥
स्थास्यतीदं धनं नो वा दैवान्माभूद्दरिद्रता ।
इत्याद्याधिश्चिता दग्धुं ज्वलितेवाऽदृगात्मनः ॥ ३१ ॥
अर्थादज्ञानिनो भीतिर्भीतिर्न ज्ञानिनः क्वचित् ।
यतोस्ति हेतुतः शेषाद्विशेषश्चानयोर्महान् ॥ ३२ ॥
अज्ञानी कर्म नोकर्म भावकर्मात्मकं च यत् ।
मनुतेऽहं सर्वमेवैतन्मोहादद्वैतवादवत् ॥ ३३ ॥
विश्वाद्भिन्नोपि विश्वं स्वं कुर्वन्नात्मानमात्महा ।
भूत्वा विश्वमयो लोके भयं नोज्झति जातुचित् ॥ ३४ ॥
तात्पर्यं सर्वतोऽनित्ये कर्मणां पाकसम्भवात् ।
नित्यं बुध्वा शरीरादौ भ्रान्तो भीतिमुपैति सः ॥ ३५ ॥

सम्यग्दृष्टिः सदेकत्वं स्वं समासादयन्नियत् ।
यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्धमभ्येति चिन्मयम् ॥ ३६ ॥
शरीरं सुखदुःखादि पुत्रपौत्रादिकं तथा ।
अनित्यं कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति यः ॥ ३७ ॥
लोकोयं मे हि चिल्लोको नूनं नित्योस्ति सोर्थतः ।
नापरो लौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोस्ति मे ॥ ३८ ॥
आत्मसंचेतनादेवं ज्ञानी ज्ञानैकतानतः ।
इह लोकभयान्मुक्तो मुक्तस्तत्कर्मबन्धनात् ॥ ३९ ॥
परलोकः परत्रात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक् ।
ततः कम्प इव त्रासो भीतिः परलोकतोस्ति सा ॥ ४० ॥
भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके मामून्मे जन्म दुर्गतौ ।
इत्याद्याकुलितं चेतः साध्वसं पारलौकिकम् ॥ ४१ ॥
मिथ्यादृष्टेस्तदेवास्ति मिथ्याभावैककारणात् ।
तद्विपक्षस्य सद्दृष्टेर्नास्ति तत्तत्र व्यत्ययात् ॥ ४२ ॥
वहिर्दृष्टिरनात्मज्ञो मिथ्यामात्रैकभूमिकः ।
स्वं समासादयत्यज्ञः कर्म कर्मफलात्मकम् ॥ ४३ ॥
ततो नित्यं भयाक्रान्तो वर्तते भ्रान्तिमानिव ।
मनुते मृगतृष्णायामम्भोभारं जनः कुधीः । ४४ ॥
अन्तरात्मा तु निर्भीकः पदं निर्भयमाश्रितः ।
भीतिहेतोरिहावश्यं मिथ्याभ्रान्तेरसम्भवात् ॥ ४५ ॥
मिथ्याभ्रान्तिर्यदन्यत्र दर्शनं चान्यवस्तुनः ।
यथा रज्जौ तमोहेतोः सर्पाध्यासाद्द्रवत्यधीः ॥ ४६ ॥
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्योतिर्यो वेत्त्यनन्यसात् ।
स विभेति कुतो न्यायादन्यथाभवनादपि ॥ ४७ ॥
वेदनागन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ ।
भीतिः प्रागेव कम्पोऽस्या मोहाद्वा परिदेवनम् ॥ ४८ ॥

उल्लाघोऽहं भविष्यामि मामून्मे वेदना क्वचित् ।
मूर्च्छैव वेदना भीतिश्चिंतनं वा मुहुर्मुहुः ॥ ४९ ॥
अस्ति नूनं कुदृष्टेः सा दृष्टिदोषैकहेतुतः ।
नीरोगस्यात्मनो ज्ञानान्न स्यात्सा ज्ञानिनां क्वचित् ॥ ५० ॥
पुद्गलाद्भिन्नचिद्धाम्नो न मे व्याधिः कुतो भयम् ।
व्याधिः सर्वः शरीरस्य नामूर्तस्येति चिन्तनात् ॥ ५१ ॥
स्पर्शनादीन्द्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु ।
नादरो यस्य सोस्त्यर्थान्निर्भीको वेदनाभयात् ॥ ५२ ॥
व्याधिस्थानेषु तेषूच्चैर्नासिद्धो नादरो मनाक् ।
बाधाहेतोः स्वतस्तेषामामयस्याविशेषतः ॥ ५३ ॥
अत्राणं क्षणिकैकान्ते पक्षे चित्तक्षणादिवत् ।
नाशात्प्रागंशनाशस्य त्रातुमक्षमतात्मनः ॥ ५४ ॥
भीतिः प्रागंशनाशात्स्यादंशिनाशभ्रमोन्वयात् ।
मिथ्यामात्रैकहेतुत्वान्नूनं मिथ्यादृशोस्ति सा ॥ ५५ ॥
शरणं पर्ययस्यास्तंगतस्यापि सदन्वयम् ।
तमनिच्छन्निवाज्ञः स त्रस्तोस्त्यत्राणसाध्वसात् ॥ ५६ ॥
सद्दृष्टिस्तु चिदंशैः स्वैः क्षणे नष्टे चिदात्मनि ।
पश्यन्न नष्टमात्मानं निर्भयो त्राणभीतितः ॥ ५७ ॥
द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः ।
नात्राणमंशतोप्यत्र कुतस्तद्धीर्महात्मनः ॥ ५८ ॥
दृग्मोहस्योदयाद्बुद्धिर्यस्यैकान्तादिवादिनः ।
तस्यैवागुप्तिभीतिः स्यान्नूनं नान्यस्य जातुचित् ॥ ५९ ॥
असज्जन्म सतो नाशं मन्यमानस्य देहिनः ।
कोऽवकाशस्ततो मुक्तिमिच्छातोऽगुप्तिसाध्वसात् ॥ ६० ॥
सम्यग्दृष्टिस्तु स्वं रूपं गुप्तं वै वस्तुनो विदन् ।
निर्भयोऽगुप्तितो भीतेर्भीतिहेतोरसम्भवात् ॥ ६१ ॥

मृत्युः प्राणात्ययः प्राणाः कायवागिन्द्रियं मनः ।
निश्वासोच्छ्वासमायुश्च दशैते वाक्यविस्तरात् ॥ ६२ ॥
तद्भीतिर्जीवितं भूयान्मामून्मे मरणं क्वचित् ।
कदा लेभे न वा दैवादित्याधिः स्वे तनुव्यये ॥ ६३ ॥
नूनं तद्भीः कुदृष्टीनां नित्यं तत्त्वमनिच्छताम् ।
अन्तस्तत्त्वैकवृत्तानां तद्भीतिर्ज्ञानिनां कुतः ॥ ६४ ॥
जीवस्य चेतना प्राणा नूनं स्वात्मोपजीविनी ।
नार्थान्मृत्युरतस्तद्भीः कुतः स्यादिति पश्यतः ॥ ६५ ॥
अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम् ।
तद्यथा विद्युदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम् ६६ ॥
भीति र्भूयाद्यथा सौस्थ्यं माभूद्दौस्थ्यं कदापि मे ।
इत्येवं मानसी चिंतापर्याकुलितचेतसाम् ॥ ६७ ॥
अर्थादाकस्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्वशालिनः ।
कुतो मोक्षोऽस्ति तद्भीतेर्निर्भीकैकपदच्युतेः ॥ ६८ ॥
निर्भीकैकपदो जीवः स्यादनन्तोप्यनादिमान् ।
नास्त्याकस्मिकं तत्र कुतस्तद्भीस्तमिच्छतः ॥ ६९ ॥
कांक्षा भोगाभिलाषः स्यात्कृते मुख्यक्रियासु वा ।
कर्मणि तत्फले स्वात्म्यमन्यदृष्टिप्रशंसनम् ॥ ७० ॥
हृषीका रुचितेषूच्चैरुद्वेगो विषयेषु यः ।
स स्याद्भोगाभिलाषस्य लिङ्गं स्वेष्टार्थरञ्जनात् ॥ ७१ ॥
तद्यथा न रतिः पक्षे विपक्षे वारतिं विना ।
नारतिर्वा स्वपक्षेपि तद्विपक्षेरतिं विना ॥ ७२ ॥
शीतद्वेषी यथा कश्चिदुष्णस्पर्शं समीहते ।
नेच्छेदनुष्णसंस्पर्शमुष्णस्पर्शाभिलाषुकः ॥ ७३ ॥
यस्यास्ति कांक्षितो भावो नूनं मिथ्यादृगस्ति सः ।
यस्य नास्ति स सद्दृष्टिः युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ७४ ॥

आस्तामिष्टार्थसंयोगोऽमुत्रभोगाभिलाषतः ।
स्वार्थसार्थैकसंसिद्धिर्न स्यान्नामैहिकापि सा ॥ ७५ ॥
निस्सारं प्रस्फुरत्येष मिथ्याकर्मैकपाकतः ।
जन्तोरुन्मत्तवच्चापि वार्द्धेर्वातोत्तरङ्गवत् ॥ ७६ ॥
ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते ।
भोगाकांक्षां विना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत् ॥ ७७ ॥
नासिद्धं बन्धमात्रत्वं क्रियायाः फलमद्वयम् ।
शुभमात्रं शुभायाः स्यादशुभायाश्चाशुभावहम् ॥ ७८ ॥
नचाशङ्क्यं क्रियाप्येषा स्यादबन्धफला क्वचित् ।
दर्शनातिशयाद्धेतोः सरागेपि विरागवत् ॥ ७९ ॥
सरागे वीतरागे वा नूनमौदयिकी क्रिया ।
अस्ति बन्धफलावश्यं मोहस्यान्यतमोदयात् ॥ ८१ ॥
नच वाच्यं स्यात्सद्दृष्टिः कश्चित्प्रज्ञापराधतः ।
अपि बन्धफलां कुर्यात्तामबन्धफलां विदन् ॥ ८१ ॥
यतः प्रज्ञाविनाभूतमस्ति सम्यग्विशेषणम् ।
तस्याश्चाभावतो नूनं कुतस्त्या दिव्यता दृशः ॥ ८२ ॥
नैवं यतः सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छतः क्रिया ।
शुभायाश्चाशुभायाश्च को विशेषो विशेषभाक् ॥ ८३ ॥
नन्वनिष्टार्थसंयोगरूपा सानिच्छतः क्रिया ।
विशिष्टेष्टार्थसंयोगरूपा सानिच्छतः कथम् ॥ ८४ ॥
तत्क्रिया व्रतरूपा स्यादर्थान्नानिच्छतः स्फुटम् ।
तस्याः स्वतंत्रसिद्धत्वात्सिद्धं कर्तृत्वमर्थसात् ॥ ८५ ॥
नैवं यतोऽस्त्यनिष्टार्थः सर्वः कर्मोदयात्मकः ।
तस्मान्नाकांक्षते ज्ञानी यावत्कर्म च तत्फलम् ॥ ८६ ॥
यत्पुनः कश्चिदिष्टार्थोऽनिष्टार्थः कश्चिदर्थसात् ।
तत्सर्वं दृष्टिदोषत्वात्पीतशंखावलोकवत् ॥ ८७ ॥

दृग्मोहस्यात्यये दृष्टिः साक्षाद्भूतार्थदर्शिनी ।
तस्यानिष्टेस्त्यनिष्टार्थबुद्धिः कर्मफलात्मके ॥ ८८ ॥
नचासिद्धमनिष्टत्वं कर्मणस्तत्फलस्य च ।
सर्वतो दुःखहेतुत्वाद् युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ८९ ॥
अनिष्टार्थफलत्वात्स्यादनिष्टार्था व्रतक्रिया ।
दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोर्दुष्टोपदेशवत् ॥ ९१ ॥
अथसिद्धं स्वतन्त्रत्वं क्रियायाः कर्मणः फलात् ।
ऋते कर्मोदयाद्धेतोस्तस्याश्चासम्भवो मतः ॥ ९२ ॥
यावदक्षीणमोहस्य क्षीणमोहस्य चात्मनः ।
यावत्यस्ति क्रिया नाम तावत्यौदयिकी स्मृता ॥ ९३ ॥
पौरुषो न यथाकामं पुंसः कर्मोदितं प्रति ।
न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुषः ॥ ९४ ॥
सिद्धो निःकांक्षितो ज्ञानी कुर्वाणोप्युदितां क्रियाम् ॥
निष्कामतः कृतं कर्म न रागाय विरागिणाम् ॥ ९५ ॥
नाशङ्क्यं चास्ति निःकांक्षः सामान्योपि जनः क्वचित् ।
हेतोः कुतश्चिदन्यत्र दर्शनातिशयादपि ॥ ९६ ॥
यतो निःकांक्षिता नास्ति न्यायात्सद्दर्शनं विना ।
नानिच्छास्याक्षजे सौख्ये तदत्यक्षमनिच्छतः ॥ ९७ ॥
तदत्यक्षसुखं मोहान्मिथ्यादृष्टिः स नेष्यति ।
दृग्मोहस्य तथा पाकशक्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥ ९७ ॥
उक्तो निःकांक्षितो भावो गुणो सद्दर्शनस्य वै ।
अस्तु का नः क्षतिः प्राक् चेत्परीक्षाक्षमता मता ॥ ९८ ॥
अथ निर्विचिकित्साख्यो गुणः संलक्ष्यते स यः ।
सद्दर्शनगुणस्योच्चैर्गुणो युक्तिवशादपि ॥ ९९ ॥ १००
आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्ध्या स्वात्मप्रशंसनात् ।
परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सा स्मृता ॥ १०१ ॥

निष्क्रान्तो विचिकित्सायाः प्रोक्तो निर्विचिकित्सकः ।
गुणः सद्दर्शनस्योच्चैर्वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥ १०१ ॥
दुर्दैवाद्दुःखिते पुंसि तीव्रासाताघृणास्पदे ।
यन्नासूयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः ॥ १०२ ॥
नैतत्तन्मनस्यज्ञानमस्म्यहं सम्पदां पदम् ।
नासावस्मत्समो दीनो वराको विपदां पदम् ॥ १०३ ॥
प्रत्युत ज्ञानमेवैतत्तत्र कर्मविपाकजाः ।
प्राणिनः सदृशाः सर्वे त्रसस्थावरयोनयः ॥ १०४ ॥
यथा द्वावर्भकौ जातौ शूद्रिकायास्तथोदरात् ।
शूद्रावभ्रान्तितस्तौ द्वौ कृतं भेदभ्रमात्मना ॥ १०५ ॥
जले जंबालवज्जीवे यावत्कर्माशुचि स्फुटम् ।
अहं ते चाविशेषाद्वा नूनं कर्ममलीमसाः ॥ १०६ ॥
अस्ति सद्दर्शनस्यासौ गुणो निर्विचिकित्सकः ।
यतोऽवश्यं स तत्रास्ति तस्मादन्यत्र न क्वचित् ॥ १०७ ॥
कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः स कुतो गुणः ।
सद्विशेषेऽपि संमोहाद् द्वयोरैक्योपलब्धितः ॥ १०८ ॥
इत्युक्तो युक्तिपूर्वोऽसौ गुणः सद्दर्शनस्य यः ।
नाविवक्षोऽपि दोषाय विवक्षो न गुणाप्तये ॥ १०९ ॥
अस्ति चामूढदृष्टिः सा सम्यग्दर्शनशालिनी ।
ययालङ्कृतवपुषा भाति सद्दर्शनं नरि[1] ॥ ११० ॥
अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः स्वलक्षणात् ।
नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोस्त्यमूढदृक् ॥ १११ ॥
अस्त्यसद्धेतुदृष्टान्तैर्मिथ्यार्थः साधितोऽपरैः ।
नाप्यलं तत्र मोहाय दृग्मोहस्योदयक्षतेः ॥ ११२ ॥
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः ।
नाल्पश्रुतः समुह्येत किं पुनश्चेद्बहुश्रुतः ॥ ११३ ॥

---

१ मनुष्ये ।

अर्थाभासेपि तत्रोच्चैः सम्यग्दृष्टेर्न मूढता ।
स्थूलानन्तरितोपात्तमिथ्यार्थेऽस्य कुतो भ्रमः ॥ ११५ ॥
तद्यथा लौकिकी रूढिरस्ति नाना विकल्पसात् ।
निःसारैराश्रिता पुंभिरथानिष्टफलप्रदा ॥ ११६ ॥
अफला कुफला हेतुशून्या योगापहारिणी ।
दुस्त्याज्या लौकिकी रूढि कैश्चिद्दुष्कर्मपाकतः ॥ ११७ ॥
अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह ।
अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवविमूढता ॥ ११८ ॥
कुदेवाराधनां कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः ।
मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढता ॥ ११८ ॥
अस्ति श्रद्धानमेकेषां लोकरूढिवशादिह ।
धनधान्यप्रदा नूनं सम्यगाराधिताम्बिका ॥ १२० ॥
अपरेपि यथाकामं देवानिच्छन्ति दुर्धियः ।
सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञापराधतः ॥ १२१ ॥
नोक्तस्तेषां समुद्देशः प्रसङ्गादपि सङ्गतः ।
लब्धवर्णो न कुर्याद्वै निस्सारं ग्रंथविस्तरम् ॥ १२२ ॥
अधर्मस्तु कुदेवानां यावानाराधनोद्यमः ।
तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टा वाक्कायचेतसाम् ॥ १२३ ॥
कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः ।
सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुर्यतः ॥ १२४ ॥
अत्रोद्देशोपि न श्रेयान्सर्वतोऽतीवविस्तरात् ।
आदेयो विधिरत्रोक्तो नादेयोऽनुक्तएव सः ॥ १२५ ॥
दोषो रागादिचिद्भावः स्यादावरणं कर्म तत् ।
तयोरभावोस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते ॥ १२६ ॥
अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम् ।
वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम् ॥ १२७ ॥

१ पण्डितः ।

एको देवः स सामान्याद् द्विधाऽवस्थाविशेषतः ।
संख्यधा नामसंदर्भाद्गुणेभ्यः स्यादनन्तधा ॥ १२७ ॥
एको देवः स द्रव्यार्थात्सिद्धेः शुद्धोपलब्धितः ।
अर्हन्निति च सिद्धश्च पर्यायार्थाद्द्विधामतः ॥ १२८ ॥
दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः ।
ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः ॥ १२९ ॥
मूर्त्तिमद्देहनिर्मुक्तो लोको लोकाग्रसंस्थितः ।
ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतो निष्कर्मा सिद्धसंज्ञकः ॥ १३० ॥
अर्हन्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मारिशातनात् ।
महादेवोऽधिदेवत्वाच्छंकरोभिसुखावहात् ॥ १३१ ॥
विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृतत्वात्कथंचन ।
ब्रह्मा ब्रह्मज्ञरूपत्वाद्धरि. दुःखापनोदनात्[1] ॥ १३२ ॥
इत्याद्यनेकनामापि नानेकोस्ति स्वलक्षणात् ।
यतोऽनन्तगुणात्मैकद्रव्यं स्यात्सिद्धसाधनात् ॥ १३३ ॥
चतुर्विंशतिरित्यादियावदन्तमनन्तता ।
तद्बहुत्वं न दोषाय देवत्वैकविधत्वतः ॥ १३४ ॥
प्रदीपानामनेकत्वं न प्रदीपत्वहानये ।
यतोऽत्रैकविधत्वं स्यान्नस्यान्नानाप्रकारता ॥ १३५ ॥
नचाशङ्क्यं यथासंख्यं नामतोप्यस्त्वनेकधा ।
न्यायादेकगुणं चैकं प्रत्येकं नाम चैककम् ॥ १३६ ॥
नामतः सर्वतो मुख्यं संख्या तस्यैव सम्भवात् ।
अधिकस्य ततो वाच्यं व्यवहारस्य दर्शनात् ॥ १३७ ॥
वृद्धैः प्रोक्तमतः सूत्रे तत्त्वं वागतिवर्ति[2] यत् ।
द्वादशाङ्गाङ्गबाह्यं च श्रुतं स्थूलार्थगोचरम् ॥ १३८ ॥
कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः ।
अत्यक्षं सुखमात्मोत्थं वीर्यं चेति चतुष्टयम् ॥ १४० ॥

१ दुःखविनाशनात् । २ वचनागोचरम् ।

सम्यक्त्वं चैव सूक्ष्मत्वमव्यावाधगुणः स्वतः ।
अस्त्यगुरुलघुत्वं च सिद्धे चाष्टगुणाः स्मृताः ॥ १४१ ॥
इत्याद्यनन्तधर्माढ्यः कर्माष्टकविवर्जितः ।
मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्देवः सेव्यो नचेतरः ॥ १४२ ॥
अर्थाद्गुरुः स एवास्ति श्रेयोमार्गोपदेशकः ।
भगवांस्तु यतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः ॥ १४३ ॥
तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपा तद्रूपधारिणः ।
गुरवःस्युर्गुरोर्न्यायान्न्यायोऽवस्थाविशेषभाक् [1] ॥ १४४ ॥
अस्त्यवस्थाविशेषोऽत्र युक्तिस्वानुभवागमात् ।
शेषसंसारिजीवेभ्यस्तेषामेवातिशायनात् ॥ १४५ ॥
भाविनैगमनयायत्तो भूष्णुस्तद्वान्निवेष्यते ।
अवश्यं भावतो व्याप्तेः सद्भावात्सिद्धसाधनात् ॥ १४६ ॥
अस्ति सद्दर्शनं तेषु मिथ्याकर्मोपशान्तितः ।
चारित्रं देशतः सम्यक् चारित्रावरणक्षतेः ॥ १४७ ॥
ततः सिद्धं निसर्गाद्वै शुद्धत्वं हेतुदर्शनात् ।
मोहकर्मोदयाभावात् तत्कार्यस्याप्यसम्भवात् ॥ १४८ ॥
तच्छुद्धत्वं सुविख्यातनिर्जराहेतुरंजसा ।
निदानं संवरस्यापि क्रमान्निर्वाणभागपि ॥ १४९ ॥
यद्वा स्वयं तदेवार्थान्निर्जरादित्रयं यतः ।
शुद्धभावाविनाभावि द्रव्यनामापि तत्त्रयम् ॥ १५० ॥
निर्जरादिनिदानं यः शुद्धो भावश्चिदात्मकः ।
परमार्हः सएवास्ति तद्वानात्मा परं गुरुः ॥ १५१ ॥
न्यायाद्गुरुत्वहेतुः स्यात्केवलं दोषसंक्षयः ।
निर्दोषो जगतः साक्षी नेता मार्गस्य नेतरः ॥ १५२ ॥
नालं छद्मस्थताप्येषा गुरुत्वक्षतये मुनेः ।
रागाद्यशुद्धभावानां हेतुर्मोहैककर्म तत् ॥ १५३ ॥

१ ‘ क ’ पुस्तके “ न्नान्योऽवस्थाविशेषभाक् ” इति पाठः ।

नन्वावृतिद्वयं कर्म वीर्यविध्वंसि कर्म तत् ।
अस्ति तत्राप्यवश्यं वै कुतः शुद्धत्वमत्र चेत् ॥ १५४ ॥
सत्यं किन्तु विशेषोस्ति प्रोक्तकर्मत्रयस्य च ।
मोहकर्माविनाभूतं बन्धसत्त्वोदयक्षयम् ॥ १५५ ॥
तद्यथा बध्यमानेस्मिन् तद्बन्धो मोहबन्धसात् ।
तत्सत्वे सत्वमेतस्य पाके पाकः क्षये क्षयः ॥ १५६ ॥
नोह्यं छद्मस्थावस्थायामर्वागेवास्तु तत्क्षयः ।
अंशान्मोहक्षयस्यांशात्सर्वतः सर्वतः क्षयः ॥ १५७ ॥
नासिद्धं निर्जरा तत्त्वं सद्दृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम् ।
आदृग्मोहोदयाभावात्तच्चासंख्यगुणा क्रमात् ॥ १५८ ॥
ततः कर्मत्रयं प्रोक्तमस्ति यद्यपि सांप्रतम् ।
रागद्वेषविमोहानामभावाद्गुरुता मता ॥ १५८ ॥
अथास्त्येकः स सामान्यात्सद्विशेषात्त्रिधामतः ।
एकोप्यग्निर्यथा तार्ण्यः पार्ण्योदार्व्यस्त्रिधोच्यते ॥ १५९ ॥
आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधागतिः ।
स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोपि मुनिकुञ्जराः ॥ १६१ ॥
एको हेतुः क्रियाप्येका विधुश्चैको बहिः समः ।
तपो द्वादशधा चैकं व्रतं चैकं च पञ्चधा ॥ १६१ ॥
त्रयोदशविधं चैकं चारित्रं समतैकधा ।
मूलोत्तरगुणाश्चैको संयमोप्येकधा मतः ॥ १६२ ॥
परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम् ।
आहारादिविधिश्चैकश्चर्यास्थानासनादयः ॥ १६३ ॥
मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टिः ज्ञानं चारित्रमात्मनः ।
रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहिस्थितम् ॥ ६४ ॥

---

१ नो विचारणीयम् । २ 'ख' पुस्तके "क्षये" इतिपाठः । ३ "गुणं" इति पंचाध्यायी पाठः । ४ विहारः ।

ध्याता ध्यानं च ध्येयश्च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात् ।
चतुर्विधाराधनापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता ॥ १६५ ॥
किंवात्र बहुनोक्तेन तद्विशेषोऽवशिष्यते ।
विशेषाच्छेषनिःशेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक् ॥ १६६ ॥
आचार्योऽनादितो रूढे योगादपि निरुच्यते ।
पञ्चाचारं परेभ्यः स आचारयति संयमी ॥ १६७ ॥
अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः ।
तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ॥ १६८ ॥
आदेशस्योपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेदभाक् ।
आदत्ते गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः ॥ १६९ ॥
न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणां व्रतधारिणाम् ।
दीक्षाचार्येण दीक्षेवं दीयमानास्ति तत्क्रिया ॥ १७० ॥
छेदोपस्थापनं चात्र क्रियतेऽन्येन तेन वा ॥
स निषिद्धो यथाम्नायादव्रतिनां मनागपि ।
हिंसकश्चोपदेशोपि नोपयुज्योत्र कारणात् ॥ १७१ ॥
मुनिव्रतधराणां वा गृहस्थव्रतधारिणाम् ।
आदेशश्चोपदेशो वा न कर्तव्यो बधाश्रितः ॥ १७२ ॥
नचाशङ्क्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्व्रतधारिभिः ।
मूर्त्तिमच्छक्तिसर्वस्वं हस्तरेखेवदर्शितम् ॥ १७३ ॥
नूनं प्रोक्तोपदेशोपि न रागाय विरागिणाम् ।
रागिणामेव रागाय ततोऽवश्यं स वर्जितः ॥ १७४ ॥
न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः ।
नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि ॥ १७५ ॥
यद्वादेशोपदेशौस्तो तौ द्वौ निरवद्यकर्मणि ।
यत्र सावद्यलेशोपि तत्रादेशो न जातुचित् ॥ १७६ ॥

१ "ख" "ग" पुस्तकयोः "दीक्षैव" इति पाठः । २ पंचाध्यायाम् नेयम्पङ्क्तिः । ३ पक्षान्तरे ।

सहासंयमिभिर्लोकैः संसर्गं भाषणं रतिम् ।
कुर्यादाचार्य इत्येकेनासौ सूरिर्नचार्हतः ॥ १७७ ॥
संघसम्पोषकः सूरिः प्रोक्तः कैश्चिन्मतेरिह ।
धर्मादेशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोऽस्त्यतः ॥ १७८ ॥
यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम् ।
तावत्कालं स नाचार्योऽप्यस्ति चान्तर्व्रताच्च्युतः ॥ १७९ ॥
इत्युक्तव्रततपःशीलसंयमादिधरो गणी ।
नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी ॥ १८० ॥
उपाध्यायः स साध्वीयान् वादी स्याद्वादकोविदः ।
वाग्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः ॥ १८१ ॥
कविः प्रत्यग्रसूत्राणां शब्दार्थैः सिद्धसाधनात् ।
गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्त्मनाम् ॥ १८२ ॥
उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासोस्ति कारणम् ।
यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरुः ॥ १८३ ॥
शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः ।
कुर्याद्धर्मोपदेशं स नादेशं सूरिवत्क्वचित् ॥ १८४ ॥
तेषामेवाश्रमं लिङ्गं सूरीणां संयमं तपः ।
आश्रयेत् शुद्धचारित्रं पञ्चाचारं स शुद्धधीः ॥ १८५ ॥
मूलोत्तरगुणानेव यथोक्तानाचरेच्चिरम् ।
परिषहोपसर्गाणां विजयी स भवेद्ध्रुवम् ॥ १८६ ॥
अत्रातिविस्तरेणालं नूनमन्तर्बहिर्मुनेः ।
शुद्धवेषधरो धीरो निर्ग्रन्थः स गुणाग्रणीः ॥ १८७ ॥
उपाध्यायः समाख्यातो विख्यातोस्ति स्वलक्षणैः ।
अधुना साध्यते साधोर्लक्षणं सिद्धमागमात् ॥ १८८ ॥
मार्गं मोक्षस्य चारित्रं सदृग्ज्ञप्तिपुरस्सरम् ।
साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः[1] ॥ १८९ ॥

---

१ गुणनिष्पन्ननामा ।

नोचे[1] वाचंयमी[2] किञ्चिद्धस्तपादादिसंज्ञया ।
न किञ्चिद्दर्शयेत्स्वस्थो मनसापि न चिन्तयेत् ॥ १९० ॥
आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिघ्नुवानश्च परम् ।
स्तिमिता[3]न्तर्बहिर्जल्पो निस्तरङ्गाब्धिवन्मुनिः ॥ १९१ ॥
नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत्स मनागपि ।
स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुनः ॥ १९२ ॥
वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभः ।
दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः ॥ १९३ ॥
निर्ग्रन्थोन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको[4] यमी ।
कर्मनिर्जरकः श्रेण्या तपस्वी स तपःशुचिः ॥ १९४ ॥
परिषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्मथः ।
एषणाशुद्धिसंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः ॥ १९५ ॥
इत्याद्यनेकधाऽनेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः ।
नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान् ॥ १९६ ॥
एवं मुनित्रयी ख्याता महती महतामपि ।
तद्विशुद्धिविशेषोस्ति क्रमात्तरतमात्मकः ॥ १९७ ॥
तत्राचार्यः प्रसिद्धोस्ति दीक्षादेशाद्ग्रणाग्रणीः ।
न्यायाद्वा देशतोध्यक्षात् सिद्धः स्वात्मन्यतत्परः ॥ १९८ ॥
अर्थान्नातत्परोप्येष दृग्मोहानुदयात्सतः ।
अस्ति तेनाविनाभूतशुद्धात्मानुभवः स्फुटम् ॥ १९९ ॥
अप्यस्ति देशतस्तत्र चारित्रावरणक्षतिः ।
वाक्यार्थात् केवलं न स्यात्क्षतिर्वापि तदक्षतिः ॥ २०१ ॥
तथापि न बहिर्वस्तु स्यात्तद्धेतुरहेतुतः ।
अस्त्युपादानहेतोश्च तत्क्षतिर्वा तदक्षतिः ॥ २०२ ॥

१ "नोच्यात्" इत्यापिपाठः । २ साधुः "वाचंयमे" इति ख पुस्तके पाठः । ३ चलनक्रियारहितः । ४ भंक्त्वा ।

संति संज्वलनस्योच्चैः स्पर्द्धकाः देशघातिनः ।
तद्विपाकोस्त्यमन्दो वा मन्दो हेतुः क्रमाद्द्वयोः ॥ २०३ ॥

संक्लेशस्तत्क्षतिर्नूनं विशुद्धिस्तु तदक्षतिः ।
सोऽपि तरतमस्वांशैः सोऽप्यनेकैरनेकधा ॥ २०४ ॥

अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह ।
तथाप्येतावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः ॥ २०५ ॥

तत्रावश्यं विशुद्ध्यंशस्तेषां मन्दोदयादिह ।
संक्लेशांशोऽथवा तीव्रोदयान्नायं विधिः स्मृतः ॥ २०६ ॥

किन्तु दैवाद्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोथ वा क्वचित् ।
तद्विशुद्धेर्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशादयं पुनः ॥ २०७ ॥

तेषां तीव्रोदयात्तावदेतावानत्र बाधकः ।
सर्वतश्चेत्प्रकोपी च नापराधोस्त्यतोपरः ॥ २०८ ॥

तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः ।
कर्तुं न शक्यते यस्मादत्रास्त्यन्यः प्रयोजकः ॥ २०९ ॥

हेतुः शुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः ।
प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तस्य व्यत्ययात् ॥ २१० ॥

दृग्मोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत् ।
न भवेद्विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः ॥ २११ ॥

नचाकिञ्चित्करश्चैवं चारित्रावरणोदयः ।
दृग्मोहस्य क्षतेनालमलं स्वस्य कृते च यः ॥ २१२ ॥

कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः ।
नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादितरदृष्टिवत् ॥ २१३ ॥

यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कस्यचिद्दैवयोगतः ।
इतरत्राक्षतापेऽपि दृष्टाध्यक्षान्न तत्क्षतिः ॥ २१४ ॥

---

१ संक्लेशः । २ सा अपिविशुद्धिः । १ वैपरीत्यात् ।

कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि ।
नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ॥ २१४ ॥
ततस्तेषामनुद्रेकः स्यादुद्रेकोऽथवा स्वतः ।
नात्मदृष्टेः क्षतिर्नूनं दृग्मोहस्योदयादृते ॥ २१५ ॥
अथ सूरिरुपाध्यायः द्वावेतौ हेतुतः समौ ।
साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धौ शुद्धोपयोगिनौ ॥ २१६ ॥
नापि कश्चिद्विशेषोस्ति द्वयोस्तरतमौ मिथः ।
नैताभ्यामन्तरुत्कर्षः साधोरप्यतिशायनात् ॥ २१७ ॥
लेशतोस्ति विशेषश्चेन्मिथस्तेषां वहिः कृतः ।
का क्षतिर्मूलहेतोः स्यादन्तःशुद्धिसमन्वितः ॥ २१८ ॥
नास्त्यत्र नियतः कश्चिद्युक्तिस्वानुभवागमात् ।
मन्दादिरुदयस्तेषां सूर्युपाध्यायसाधुषु ॥ २१९ ॥
प्रत्येकं बहवः सन्ति सूर्युपाध्यायसाधवः ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैश्चैकैकशः पृथक् ॥ २२० ॥
कश्चित्सूरिः कदाचिद्वै विशुद्धिं परमां गतः ।
मध्यमां वा जघन्यां वा स्वोचितां पुनराश्रयेत् ॥ २२१ ॥
हेतुस्तत्रोदिता नानाभावांशैः स्पर्द्धकाः क्षणम् ।
धर्मादेशोपदेशादिहेतुर्नात्र बहिः क्वचित् ॥ २२२ ॥
परिपाट्यानया योज्याः पाठकाः साधवश्च ये ।
न विशेषो यतस्तेषां नियतः शेषो विशेषभाक् ॥ २२३ ॥
ननु धर्मोपदेशादि कर्म तत्कारणं बहिः ।
हेतोरभ्यन्तरस्यापि बाह्यं हेतुर्बहिः क्वचित् ॥ २२४ ॥
नैवमर्थाद्यतः सर्वं वस्त्वकिञ्चित्करं बहिः ।
तत्पदं फलवन्मोहादिच्छतोऽप्यान्तरं परम् ॥ २२५ ॥
किं पुनर्गणिनस्तस्य सर्वतोनिच्छतो बहिः ।
धर्मादेशोपदेशादिस्वपदं तत्फलं च यत् ॥ २२६ ॥

नास्यासिद्धं निरीहत्वं धर्मादेशादिकर्मणि ।
न्यायादक्षार्थकांक्षाया ईहा नान्यत्र जातुचित् ॥ २२७ ॥
ननुनेहांविनाकर्म, कर्मनेहां विना क्वचित् ।
तस्मान्नानीहितंकर्म स्यादक्षार्थस्तु वा नवा ॥ २२८ ॥
नैवं हेतोरतिव्याप्तेरारादाक्षीणमोहिषु ।
बन्धस्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेरसम्भवः ॥ २२९ ॥
ततोऽस्त्यन्तःकृतो भेदः शुद्धेनांशांशतास्त्रिषु ।
निर्विशेषात्समस्त्वेष पक्षो माभूद्बहिः कृतः ॥ २३१ ॥
किञ्चास्ति यौगिकी रूढिः प्रसिद्धा परमागमे ।
विना साधुपदं न स्यात्केवलोपत्तिरञ्जसा ॥ २३२ ॥
तत्राकूतमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थदर्शिना ।
क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥ २३३ ॥
यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि ।
कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥ २३४ ॥
ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह ।
नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोस्ति तत्र यत् ॥ २३५ ॥
न पुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापना वरम् ।
प्रागादाय क्षणं पश्चात्सूरिः साधुपदं श्रयेत् ॥ २३६ ॥
उक्तं दिग्मात्रमत्रापि प्रसङ्गाद्गुरुलक्षणम् ।
शेषं विशेषतो ज्ञेयं तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥ २३७ ॥
धर्मो नीचपदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम् ।
तत्राजवंजवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः ॥ २३८ ॥
सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रं धर्मो रत्नत्रयात्मकः ।
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥ २३९ ॥
ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा ।
सदृक् पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित् ॥ २४० ॥

१ दिवत् इति पाठः 'ख' पुस्तके पञ्चाध्याय्याञ्च । २ संसारः । ३ संसारनाशः—मोक्षः ।

रूढितोऽधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा ।
तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥ २४१ ॥
सा द्विधा स च सागारानागाराणां विशेषतः ।
यतः क्रियाविशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषतः ॥ २४२ ॥
तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात् ।
देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥ २४३ ॥
यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः ।
नात्राप्यन्यतरेणोना नातिरिक्ता कदाचन ॥ २४४ ॥
सर्वैरेव समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम् ।
न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशत्रयादपि ॥ २४५ ॥
उक्तं च ।
वद समिदिंदियरोधो लोचो आवसयमचेलमन्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥ २४६ ॥
एते मूलगुणाः प्रोक्ताः यतीनां जैनशासने ।
लक्षाणां चतुरशीतिर्गुणाश्चोत्तरसंज्ञकाः ॥ २४७ ॥
ततः सागारधर्मो वाऽनगारो वा यथोदितः ।
प्राणिसंरक्षणं मूलमुभयत्राविशेषतः ॥ २४८ ॥
उक्तमस्ति क्रियारूपं व्यासाद्व्रतकदम्बकम् ।
सर्वसावद्ययोगस्य तदेकस्य निवृत्तये ॥ २४९ ॥
अर्थाज्जैनोपदेशोयमस्त्यादेशः स एव च ।
सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते ॥ २५० ॥
सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वर्तिपदार्थतः ।
प्राणोच्छेदो हि सावद्यं सैव हिंसा प्रकीर्तिता ॥ २५१ ॥
योगस्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते ।
सूक्ष्मश्चाबुद्धिपूर्वो यः स स्मृतो योग इत्यपि ॥ २५२ ॥

---

१ व्रतानि समितयः इन्द्रियनिरोधाः लोचः आवश्यकानि अचेलं अस्नानम् । क्षितिशयनं स्थितभोजनं एकभुक्तं च । २ विस्तारात् ।

तस्याभावो निवृत्तिः स्याद्व्रतं चार्थादिति स्मृतिः ।
अंशात्साप्यंशतस्तत्सा सर्वतः सर्वतोपि तत् ॥ २५३ ॥
सर्वतः सिद्धमेवैतद् व्रतं बाह्यं दयाङ्गिषु ।
व्रतमन्तः कषायाणां त्यागः सैवात्मनि क्रिया ॥ २५४ ॥
लोकासंख्यातमात्रास्ते यावद्रागादयः स्फुटम् ।
हिंसायास्तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल ॥ २५५ ॥
आत्मेतराङ्गिणामङ्गरक्षणं यन्मतं स्मृतौ ।
तत्परं स्वात्मरक्षायाः कृतेनातः परत्रतत् ॥ २५६ ॥
सत्सु रागादिभावेषु बन्धः स्यात्कर्मणां बलात् ।
तत्पाकादात्मनो दुःखं तत्सिद्धः स्वात्मनो बधः ॥ २५७ ॥
ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयादृते ।
चारित्रापरनामैतद्व्रतं निश्चयतः परम् ॥ २५८ ॥
रूढेः शुभोपयोगोऽपि ख्यातश्चारित्रसंज्ञया ।
स्वार्थक्रियामकुर्वाणः सार्थनामा न निश्चयात् ॥ २६० ॥
किन्तु बन्धस्य हेतुः स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत् ।
नासौ वरं वरं यः स नापकारोपकारकृत् ॥ २६१ ॥
विरुद्धकार्यकारित्वं नास्यासिद्धं विचारसात् ।
बन्धस्यैकान्ततो हेतोः शुद्धादन्यत्र संभवात् ॥ २६२ ॥
नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जराहेतुरंशतः ।
अस्ति नाबन्धहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहः ॥ २६३ ॥
कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत् ।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात्सैष चारित्रसंज्ञिकः ॥ २६४ ॥

उक्तं च ।

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्तिणिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ २६५ ॥

१ न विचारणीयम् ।

नूनं सद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः ।
समस्तैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्रमात्रया ॥ २६६ ॥
सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः ।
त्रयाणामविनाभावाद् रत्नत्रयमखण्डितम् ॥ २६७ ॥
किञ्च सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः ।
सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥ २६७ ॥
अर्थोयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानचारित्रमत्र यत् ।
भूतपूर्वं भवेत्सम्यक् सूते वा भूतपूर्वकम् ॥ २६८ ॥
शुद्धोपलब्धिशक्तिर्यालब्धिज्ञानातिशायिनी ।
सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धोभावोथवापि च ॥ २६९ ॥
यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृक् ।
न तद्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥ २७१ ॥
तेषामन्यतमोद्देशो नालं दोषाय जातुचित् ।
मोक्षमार्गैकसाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥ २७१ ॥
बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः ।
रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नारागांशैः कदाचन ॥ २७२ ॥

उक्तं च ।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७३ ॥
येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७४ ॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७५ ॥
उक्तो धर्मस्वरूपोपि प्रसङ्गात्सङ्गतोंशतः ।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥ २७६ ॥

---

१ पूर्वं भूतं उत्पन्नं भूतपूर्वं सम्यक्त्वम् । २ स्मरणात् । ३ संक्षेपात् ।

देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्त्वार्थदर्शिनी ।
ख्यातापयमूढदृष्टिः स्यादन्यथा मूढदृष्टिता ॥ २७८ ॥
सम्यक्त्वस्य गुणोप्येष नालं दोषाय लक्षितः ।
सम्यग्दृष्टिर्यतोवश्यं यथा स्यान्न तथेतरः ॥ २७९ ॥
उपबृंहणमत्रास्ति गुणः सम्यग्दृगात्मनः ।
लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं बृंहणादिह ॥ २८० ॥
आत्मशक्तेरदौर्बल्यकरणं चोपबृंहणम् ।
अर्थाद्दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावास्खलनं हि तत् ॥ २८१ ॥
जानन्नप्येष निःशेषात्पौरुषं नात्मदर्शने ।
तथापि यत्नवानत्र पौरुषं प्रेरयन्निव ॥ २८२ ॥
यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यसेदपि तद्बहिः ।
सत्क्रियां काञ्चिदप्यर्थात्तत्साध्योपयोगिनीम् ॥ २८३ ॥
नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोपि प्रमादवान् ।
निष्प्रमादतयात्मानमाददानः समादरात् ॥ २८४ ॥
रसेन्द्रं सेवमानोपि कोपथ्यं न वाचरेत् ।
आत्मनोनुल्लाघतामुज्झन्नुल्लाघतामपि ॥ २८५ ॥
यद्वा सिद्धं विनायासात्स्वतस्तत्रोपबृंहणम् ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणौ निर्जरायाः सुसम्भवात् ॥ २८६ ॥
अवश्यं भाविनी तत्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणाम् ।
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥ २८७ ॥
न्यायादायातमेतद्वै यावतांशेन तत्क्षितौ ।
वृद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धिर्वृद्धिः पुनः पुनः ॥ २८८ ॥
यथा यथा विशुद्धिः स्याद्वृद्धिरन्तःप्रकाशिनी ।
तथा तथा हृषीकानामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥ २८९ ॥
ततो भूम्नि क्रियाकाण्डे नात्मशक्तिं स लोपयेत् ।
किन्तु संवर्द्धयन्नूनं यत्नादपि च दृष्टिमान् ॥ २९० ॥

१ अत्रैकाक्षराधिक्यम् । २ बहुक्रियासमूहे ।

उपबृंहणनामापि गुणः सद्दर्शनस्य यः ।
गणितो गणनामध्ये गुणानां नागुणाय च ॥ २९१ ॥
सुस्थितीकरणं नाम गुणः सद्दर्शनस्य यः ।
धर्माच्च्युतस्य धर्मे तन्नाधर्मे धर्मिणः क्षतेः ॥ २९२ ॥
न प्रमाणीकृतं वृद्धैर्धर्मायाधर्मसेवनम् ।
भाविधर्माशया केचिन्मन्दाः सावद्यवादिनः ॥ २९३ ॥
परंपरेति पक्षस्य नावकाशोऽत्र लेशतः ।
मूर्खादन्यत्र को मोहात्शीतार्थी वन्हिमाविशेत् ॥ २९४ ॥
नैतद्धर्मस्य प्राग्रूपं प्रागधर्मस्य सेवनम् ।
व्याप्तेरपक्षधर्मत्वाद्धेतोर्वा व्यभिचारतः ॥ २९५ ॥
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावद्धेतोः कर्मोदयात्स्वतः ।
धर्मो वा स्यादधर्मो वाऽप्येष सर्वत्र निश्चयः ॥ २९६ ॥
तत्स्थितीकरणं द्वेधा साक्षात्स्वपरभेदतः ।
स्वात्मनः स्वात्मतत्वेर्थात् परतत्त्वे परस्य तत् ॥ २९७ ॥
तत्र मोहोदयोद्रेकाच्च्युतस्यात्मस्थितेश्चितः ।
भूयः संस्थापनं स्वस्य स्थितीकरणमात्मनि ॥ २९७ ॥
अयं भावः क्वचिद्दैवाद्दर्शनात्स पतत्यधः ।
व्रजत्यूद्ध्वं पुनर्दैवात्सम्यगारुह्य दर्शनम् ॥ २९८ ॥
अथ क्वचिद्यथाहेतोर्दर्शनादपतन्नपि ।
भावशुद्धिमधोधोंशैर्गच्छत्यूद्ध्वं स रोहति ॥ २९९ ॥
क्वचिद्वहिः शुभाचारं स्वीकृतं चापि मुञ्चति ।
न मुञ्चति कदाचिद्वै मुक्त्वा वा पुनराचरेत् ॥ ३०१ ॥
यद्वा वहिःक्रियाचारे यथावस्थं स्थितेपि च ।
कदाचिद्धीयमानोऽन्तर्भावैर्भूत्वा च वर्तते ॥ ३०१ ॥
नासम्भवमिदं यस्माच्चारित्रावरणोदयः ।
अस्ति तरतमस्वांशैः गच्छन्निम्नोन्नतामिह ॥ ३०२ ॥

अत्राभिप्रेतमेवैतत् स्वस्थितीकरणं स्वतः ।
न्यायात्कुतश्चिदत्रापि हेतुस्तत्रानवस्थितिः ॥ ३०४ ॥
सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात् ।
भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः ॥ ३०५ ॥
धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहः परे ।
नात्मवृत्तं विहायाशु तत्परः पररक्षणे ॥ ३०६ ॥

उक्तं च ।

*आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ पर हिदं च कादव्वं ।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठुकादव्वं ॥ ३०७ ॥
उक्तं दिग्मात्रतोप्यत्र सुस्थितीकरणं गुणः ।
निर्जरायां गुणश्रेणौ प्रसिद्धः सुदृगात्मनः ॥ ३०८ ॥
वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु ।
संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत् ॥ ३०८ ॥
अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु सुदृष्टिमान् ।
सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये ॥ ३१९ ॥
यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मंत्रासिकोशकम् ।
तावद्दृष्टुं च श्रोतुंचतद्बाधां सहते न सः ॥ ३१० ॥
तद्द्विधाऽथ च वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचरात् ।
प्रधानं स्वात्मसम्बन्धिगुणो यावत्परात्मनि ॥ ३११ ॥
परीषहोपसर्गाद्यैः पीडितस्यापि कस्यचित् ।
न शैथिल्यं शुभाचारे ज्ञाने ध्याने तदादिमम् ॥ ३१२ ॥
इतरत्प्रागिहाख्यातं गुणो दृष्टिमतः स्फुटम् ।
शुद्धध्यानवलादेव सतो बाधापकर्षणम् ॥ ३१३ ॥

---

* आत्महितं कर्तव्यं यथा शक्नोति पर हितं च कर्तव्यम् ।
आत्महितपराहिताभ्यामात्महितं सुष्ठुकर्तव्यम् ॥

१ आत्मोपदेशात् । २ एकस्यार्हद्बिम्बादेः ।

प्रभावनाङ्गसंज्ञोस्ति गुणः सद्दर्शनस्य वै ।
उत्कर्षकरणं नाम लक्षणादपि लक्षितम् ॥ ३१५ ॥
अर्थात्तद्धर्मणः पक्षे नावद्यस्य मनागपि ।
धर्मपक्षक्षतेर्यस्मादधर्मोत्कर्षरोषणात् ॥ ३१६ ॥
पूर्ववत्सोपि द्वैविध्यः स्वान्यात्मभेदतः पुनः ।
तत्राद्यो वरमादेयः स्यादादेयोऽपरोप्यतः ॥ ३१७ ॥
उत्कर्षो यद्बलाधिक्यादधिकीकरणं वृषे ।
असत्सु प्रत्यनीकेषु नालं दोषायतत्क्वचित् ॥ ३१८ ॥
मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः ।
जीवः शुद्धतमः कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभावना ॥ ३१८ ॥
नायं स्यात्पौरुषायत्तः किन्तु नूनं स्वभावतः ।
ऊर्द्ध्वमूर्द्ध्वं गुणश्रेणौ यतः शुद्धिर्यथोत्तरा ॥ ३१९ ॥
बाह्यप्रभावनाङ्गोस्ति विद्यामन्त्रासिभिर्बलैः ।
तपोदानादिभिर्जैनधर्मोत्कर्षो विधीयताम् ॥ ३२० ॥
परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनाम्[1] ।
चमत्कारकरं किञ्चित्तद्विधेयं महात्मभिः ॥ ३२१ ॥
उक्तः प्रभावनाङ्गोपि गुणः सद्दर्शनस्य वै ।
येन सम्पूर्णतां याति दर्शनस्य गुणाष्टकम् ॥ ३२२ ॥

इति श्रीस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारद विद्वन्मणिराजमल्ल विरचितायां श्रावकाचारापरनाम लाटीसंहितायां साधुश्री दूदात्मज फामन मनःसरोजारविन्दाविकाशनैक-मार्तण्डमण्डलायमानायामष्टाङ्गसम्यग्दर्शन-वर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः ।

---

1 जैनशत्रुषु ।

अथ पञ्चमः सर्गः ।

अष्टाङ्गदर्शनं सम्यग्भूयाद्वः श्रेयसे दृढम् ।
साधु दूदात्मजोद्दामधर्मारामैकफामन ॥ १ ॥

इत्याशीर्वादः ।

शुद्धदर्शनिकोद्दान्तो भावैः सातिशयः क्षमी ।
ऋजुर्जितेन्द्रियो धीरो व्रतमादातुमर्हति ॥ १ ॥
शरीरभवभोगेभ्यो विरक्तो दोषदर्शनात् ।
अक्षातीतसुखैषी यः स स्यान्नूनं व्रतार्हतः ॥ २ ॥
न स्यादणुव्रतार्हो यो मिथ्यान्धतमसा ततः ।
लोलुपो लोलचक्षुश्च वाचालो निर्दयः कुधीः ॥ ३ ॥
मूढोमूढो सच (?) प्रायो जाग्रन्मूर्च्छापरिग्रहः ।
दुर्विनीतो दुराराध्यो निर्विवेकी समत्सरः ॥ ४ ॥
निन्दकश्च विनास्वार्थं देवशास्त्रेष्वसूयकः ।
उद्धतोऽवर्णवादी च वावदूकोप्यकारणे ॥ ५ ॥
आततायी क्षणादन्यो भोगाकांक्षी व्रतच्छलात् ।
सुखाशयो धनाशश्च बहुमानी च कोपतः ॥ ६ ॥
मायावी लोभपात्रश्च हास्याद्युद्रेकलाक्षितः ।
क्षणादुष्णः क्षणाच्छीतः क्षणाद्भीरुः क्षणाद्भटः ॥ ७ ॥
इत्याद्यनेकदोषाणामास्पदं स्वपदस्थितः ।
इच्छन्नपि व्रतादींश्च नाधिकारी स निश्चयात् ॥ ८ ॥
न निषिद्धोऽथवा सोऽपि निर्दम्भश्चेद्व्रतोन्मुखः ।
मृदुमतिर्भोगाकांक्षी स्याच्चिकित्स्यो न वञ्चकः ॥ ९ ॥
अर्थात्कालादिसंलब्धो लब्धसद्दर्शनान्वितः ।
देशतः सर्वतश्चापि व्रती तत्त्वाविदिष्यते ॥ १० ॥

---

१ व्याप्तः । २ समत्सरः ।

विनाप्यनेहसो लब्धेः कुर्वन्नपि व्रतक्रियाम् ।
हठादात्मबलाद्वापि व्रतंमन्योऽस्तु का क्षतिः ॥ ११ ॥
किञ्चात्मनो यथाशक्ति तथेच्छन्वा प्रतिक्रियाम् ।
कस्कोपि प्राणिरक्षार्थं कुर्वन्नार्यैर्न वारितः ॥ १२ ॥
द्रव्यमात्रक्रियारूढो भावरिक्तो यदृच्छतः ।
स्वल्पभोगं फलं तस्यास्तन्माहात्म्यादिहाश्नुते ॥ १३ ॥
निर्देशोयं यथोक्तायाः क्रियायाः प्रतिपालनात् ।
छद्मनाऽथ प्रमादाद्वा नायं तस्याश्च साधकाः ॥ १४ ॥
अभव्यो भव्यमात्रो वा मिथ्यादृष्टिरपि क्वचित् ।
देशतः सर्वतो वापि गृह्णाति च व्रतक्रियाम् ॥ १५ ॥
हेतुश्चारित्रमोहस्य कर्मणो रसलाघवात् ।
शुक्लेश्याबलात्काश्चिदार्हतं व्रतमाचरेत् ॥ १६ ॥
यथास्वं व्रतमादाय यथोक्तं प्रतिपालयेत् ।
सानुरागः क्रियामात्रमतिचारविवर्जितम् ॥ १७ ॥
एकादशाङ्गपाठोपि तस्य स्याद् द्रव्यरूपतः ।
आत्मानुभूतिशून्यत्वाद्भावतः संविदुज्झितः ॥ १८ ॥
न वाच्यं पाठमात्रत्वमस्ति तस्येह नार्थतः ।
यतस्तस्योपदेशाद्वै ज्ञानं विंदन्ति केचन ॥ १९ ॥
ततः पाठोस्ति तेषूच्चैः पाठस्याप्यस्ति ज्ञातृता ।
ज्ञातृतायां च श्रद्धानं प्रतीतीरोचनं क्रिया ॥ २० ॥
अर्थात्तत्र यथार्थत्वमित्याशङ्क्यं न कोविदैः ।
जीवाजीवास्तिकायानां यथार्थत्वं न सम्भवात् ॥ २१ ॥
किन्तु कश्चिद्विशेषोस्ति प्रत्यक्षज्ञानगोचरः ।
येन तज्ज्ञानमात्रेपि तस्याज्ञानं हि वस्तुतः ॥ २२ ॥
तत्रोल्लेखोस्ति विख्यातः परीक्षादिक्षमोपि यः ।
न स्याच्छुद्धानुभूतिः सा तत्र मिथ्यादृशि स्फुटम् ॥ २३ ॥

१ कः कोऽपि ।

अस्तु सूत्रानुसारेण स्वसंविदविरोधिना ।
परिक्षायाः सहत्वेन हेतोर्बलवतोपि च ॥ २४ ॥
दृश्यते पाठमात्रत्वाद् ज्ञानस्यानुभवस्य च ।
विशेषोऽध्यक्षको यस्माद्दृष्टान्तादपि संमतः ॥ २५ ॥
यथा चिकित्सकः कश्चित्पराङ्गगतवेदनाम् ।
परोपदेशवाक्याद्वा जानन्नानुभवत्यपि ॥ २६ ॥
तथा सूत्रार्थवाक्यार्थात् जानन्नप्यात्मलक्षणः ।
नास्वादयतिमिथ्यात्वकर्मणोरसपाकतः ॥ २७ ॥
सिद्धमेतावताप्येतन्मिथ्यादृष्टेः क्रियावतः ।
एकादशाङ्गपाठेपि ज्ञानेप्यज्ञानमेवतत् ॥ २८ ॥
नचाशङ्क्यं क्रियामात्रे नानुरागोऽस्य लेशतः ।
रागस्य हेतुसिद्धत्वाद्विशुद्धेस्तत्र सम्भवात् ॥ २९ ॥
सूत्राद्विशुद्धस्थानानि सन्ति मिथ्यादृशि क्वचित् ।
हेतोश्चारित्रमोहस्य रसपाकस्य लाघवात् ॥ ३० ॥
ततो विशुद्धिसंसिद्धेरन्यन्थानुपपत्तितः ।
मिथ्यादृष्टेरवश्यं स्यात्सद्व्रतेष्वनुरागिता ॥ ३१ ॥
ततः क्रियानुरागेण क्रियामात्राच्छुभास्रवात् ।
सद्व्रतस्य प्रभावात्स्यादस्यग्रैवेयकं सुखम् ॥ ३२ ॥
किन्तु कश्चिद्विशेषोस्ति जिनदृष्टो यथागमात् ।
क्रि[illegible]नपि येनायमचारित्री प्रमाणितः ॥ ३३ ॥
सम्यग्दृष्टेस्तु तत्सर्वं यथाणुव्रतपञ्चकम् ।
महाव्रतं तपश्चापि श्रेयसे चामृताय च ॥ ३४ ॥
अस्ति वा द्वादशाङ्गादिपाठस्तज्ज्ञानमित्यपि ।
सम्यग्ज्ञानं तदेवैकं मोक्षाय च दृगात्मनः ॥ ३५ ॥
एवं सम्यक् परिज्ञाय श्रद्धाय श्रावकोत्तमैः ।
सम्पदर्थमिहामुत्र कर्तव्यो व्रतसंग्रहः ॥ ३६ ॥

सम्यग्दृशाऽथ मिथ्यात्वशालिनाप्यथशक्तितः।
अभव्येनापि भव्येन कर्तव्यं व्रतमुत्तमम् ॥ ३७ ॥
यतः पुण्यक्रिया साध्वी कापि नास्तीह निष्फला।
यथापात्रं यथायोग्यं स्वर्गभोगादिसत्फला ॥ ३८ ॥
पारंपर्येण केषांचिदपवर्गाय सत्क्रिया।
पञ्चानुत्तरविमाने[1] मुदे ग्रैवेयकादिषु ॥ ३९ ॥
केषांचित्कल्पवासादिश्रेयसे सागरावधि।
भावनादित्रयेषूच्चैः सुधापानाय जायते ॥ ४० ॥
मानुषाणां च केषाञ्चित्तीर्थङ्करपदाप्तये।
चक्रित्वार्थार्द्धचक्रित्वपदसंप्राप्तिहेतवे ॥ ४१ ॥
उत्तमभोगभूषूच्चैः सुखं कल्पतरूद्भवम्।
एतत्सर्वमहं मन्ये श्रेयसः फलितं महत् ॥ ४२ ॥
सत्कुले जन्म दीर्घायुर्वपुर्गाढं निरामयम्।
गृहे सम्पदपर्यन्ता पुण्यस्यैतत्फलं विदुः ॥ ४३ ॥
साध्वी भार्या कुलोत्पन्ना भर्तुश्छन्दानुगामिनी।
सूनवः पितुराज्ञायाः मनागचलिताशयाः ॥ ४४ ॥
सधर्मभ्रातृवर्गाश्च सानुकूलाः सुसंहताः।
स्निग्धाश्चानुचरा यावदेतत्पुण्यफलं जगुः ॥ ४५ ॥
जैनधर्मे प्रतीतिश्च संयमे शुभभावना।
ज्ञानशक्तिश्च सूत्रार्थे गुरवश्चोपदेशकाः ॥ ४६ ॥
सधर्मिणः सहायाश्च स्पष्टाक्षरं वाक्पाटवम्।
सौष्ठवं चक्षुरादीनां मनीषा प्रतिभान्विता ॥ ४७ ॥
सुयशः सर्वलोकेस्मिन् शरदिन्दुसमप्रभम्।
शासनं स्यादनुल्लंघ्यं पुण्यभाजां न संशयः ॥ ४८ ॥
विजयः स्यादरिध्वंसात्प्रतापस्तच्छिरोनतिः।
दण्डाकर्षोऽप्यरिभ्यश्च सर्वं सत्पुण्यपाकतः ॥ ४९ ॥

---

१ 'ख' पुस्तके "विमानेषु" इत्यपिपाठः।

चक्रित्वं सन्नृपत्वं वा नहि पुण्यादृते क्वचित् ।
अकस्मादबलालाभो धनलाभोप्यचिन्तनात् ॥ ५० ॥
ऐश्वर्यं च महत्त्वं च सौहार्दं सर्वमान्यता ।
पुण्यं विना न कस्यापि विद्याविज्ञानकौशलम् ॥ ५१ ॥
अथ किं बहुनोक्तेन त्रैलोक्येपि च यत्सुखम् ।
पुण्यायत्तं[1] हि तत्सर्वं किञ्चित्पुण्यं विना नहि ॥ ५२ ॥
तत्प्रसीदाधुना प्राज्ञ ! मद्वचः शृणु फामन ।
सर्वामयविनाशाय पिब पुण्यरसायनम् ॥ ५३ ॥
प्रोवाच फामनो नाम्ना श्रावकः सर्वशास्त्रवित् ।
पुण्यहेतौ परिज्ञाते तत्कर्तुमपि चोत्सहेत् ॥ ५४ ॥
शृणु श्रावक ! पुण्यस्य कारणं वच्मि साम्प्रतम् ।
देशतो विरतिर्नाम्नाणुव्रतं सर्वतो महत् ॥ ५५ ॥
ननु विरतिशब्दोपि साकांक्षो व्रतवाचकः ।
केभ्यश्च कियन्मात्रेभ्यः कतिभ्यः सा वदाद्य नः ॥ ५६ ॥
हिंसायाः विरतिः प्रोक्ता तथा चानृतभाषणात् ।
चौर्याद्विरतिःख्याता स्यादब्रह्मपरिग्रहात् ॥ ५७ ॥
एभ्यो देशतो विरतिर्गृहियोग्यमणुव्रतम् ।
सर्वतो विरतिर्नाम मुनियोग्यं महाव्रतम् ॥ ५८ ॥
ननु हिंसात्वं किं नाम का नाम विरतिस्ततः ।
किं देशत्वं यथाम्नायाद्ब्रूहि मे वदतां वर ॥ ५९ ॥
हिंसा प्रमत्तयोगाद्वै यत्प्राणव्यपरोपणम् ।
लक्षणाल्लक्षिता सूत्रे लक्षज्ञः पूर्वसूरिभिः ॥ ६० ॥
प्राणाः पञ्चेन्द्रियाणीह वाग्मनोङ्गबलत्रयम् ।
निःश्वासोच्छ्वाससंज्ञः स्यादायुरेकं दशेति च ॥ ६१ ॥

---

१ पुण्याधीनम् ।

उक्तं च ।

पंचवि इंदिय पाणा मण बचकायेण तिण्णिबल पाणा ।
आणपाणप्पाणा आउगपाणेण हुंति दह पाणा ॥

एकाक्षे तत्र चत्वारो द्वीन्द्रियेषु षडेव ते ।
त्र्यक्षे सप्त चतुराक्षे विद्यन्तेष्टौ यथागमात् ॥ ६२ ॥
नवासंज्ञिनि पञ्चाक्षे प्राणाः संज्ञिनि ते दश ।
मत्त्वेति किल सद्मस्थैः कर्तव्यं प्राणरक्षणम् ॥ ६३ ॥
अत्रैकाक्षादिजीवाः स्युः प्राणशब्दोपलक्षणात् ।
प्राणादिमत्त्वं जीवस्य नेतरस्य कदाचन ॥ ६४ ॥
प्रसङ्गादत्र दिग्मात्रं वाच्यं प्राणिनि कायकम् ।
तत्स्वरूपं परिज्ञाय तद्रक्षां कर्तुमर्हति ॥ ६५ ॥
सन्ति जीवसमासास्ते संक्षेपाच्च चतुर्दश ।
व्यासादसंख्यभेदाश्च सन्त्यनन्ताश्च भावतः ॥ ६६ ॥
तत्र जीवो महीकायः सूक्ष्मः स्थूलश्च स द्विधा ।
पर्याप्तापर्याप्तकाभ्यां भेदाभ्यां स द्विधाथवा ॥ ६७ ॥
प्रत्येकं तस्य भेदाः स्युश्चत्वारोपि च तद्यथा ।
शुद्धा भू भूमिजीवश्च भूकायो भूमिकायिकः ॥ ६८ ॥
शुद्धा प्राणोज्झिता भूमिर्यथा स्याद्दग्धमृत्तिका ।
भूजीवोऽद्यैव भूमौ यो द्रागेष्यति गत्यन्तरात् ॥ ६९ ॥
भूरेव यस्य कायोस्ति यद्वानन्यगतिर्भुवः ।
भूशरीरस्तदात्वेस्य सभूकाय इत्युच्यते ॥ ७० ॥
भूकायिकस्तु भूमिस्थोऽन्यगतौ गन्तुमुत्सुकः ।
स समुद्घातावस्थायां भूकायिक इति स्मृतः ॥ ७१ ॥

---

१ पञ्चअपि इन्द्रियप्राणाः मनोवचःकायेन त्रयःबलप्राणाः । आनप्राणप्राणा आयुष्यप्राणेन भवन्ति दश प्राणाः ।

एवमग्निजलादीनां भेदाश्चत्वार एव ते ।
प्रत्येकं चापि ज्ञातव्याः सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् ॥ ७२ ॥
सूक्ष्मकर्मोदयाज्जाताः सूक्ष्मा जीवा इतीरिताः ।
सन्त्यघातिशरीरास्ते वज्रानलजलादिभिः ॥ ७३ ॥

उक्तं च ।

णहि जेसिं पडिखलणं पुढवीताराहि अग्गिवाराहिं ।
ते हुंति सुहमकाया इयरे पुण थूलकाया य ॥ २ ॥
स्थूलकर्म्मोदयाज्जाताः स्थूला जीवाः स्वलक्षणात् ।
सन्ति घातिशरीरास्ते वज्रानलजलादिभिः ॥ ७४ ॥

उक्तं च ।

घादिसरीरा थूला अघादिसरीरा हवे सुहमा ।
किञ्च स्थूलशरीरास्ते क्वचिच्च क्वचिदाश्रिताः ।
सूक्ष्मकायास्तु सर्वत्र त्रैलोक्ये घृतवद्घटे ॥ ७५ ॥

उक्तं च ।

आधारधरा पढमा सव्वत्थ णिरंतरा सुहमा ॥
प्रत्येकं ते द्विधा प्रोक्ताः केवलज्ञानलोचनैः ।
पर्याप्तकाश्चापर्याप्तास्तेषां लक्षणमुच्यते ॥ ७६ ॥
पर्याप्तको यथा कश्चिद्दैवाद्गत्यन्तराच्च्युतः ।
अन्यतमां गतिं प्राप्य गृहीतुं वपुरुत्सुकः ॥ ७७ ॥
उदयात्पर्याप्तकस्य कर्मणो हेतुमुत्तरात् ।
सम्पूर्णं वपुरादत्ते निष्प्रत्यूहतयासुमान् ॥ ७८ ॥
अपर्याप्तकजीवस्तु नाश्नुते वपुःपूर्णताम् ।
अपर्याप्तकसंज्ञस्य तद्विपक्षस्य पाकतः ॥ ७९ ॥
अष्टादशैकभागेस्मिन् श्वासस्यैकस्य मात्रया ।
आयुरस्य जघन्यं स्यादुत्कृष्टं तावदेव हि ॥ ८० ॥

---

१ पुढवी पुढवीकाओ पुढवीकाइयय पुढविजीवो य ।
साहारणोपमुक्को सरीरगहिदो भवंतरिदो ॥

क्षुद्रभवायुरेतद्वा सर्वजघन्यमागमात् ।
तद्वदायुर्विशिष्टास्ते जीवाश्चातीव दुःखिताः ॥ ८१ ॥

उक्तं च ।

तिण्णिसयाछत्तीसाछावट्ठिसहस्सवार मरणाइं ।
अंतोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥

अत्रापर्याप्तशब्देन लब्ध्यपर्याप्तको मतः ।
अपर्याप्तकजीवस्तु स्यात्पर्याप्तक एव हि ॥ ८२ ॥
एवं ज्ञेयं जलादीनां लक्ष्म नो दर्शितं मया ।
ग्रन्थगौरवभीतेर्वा पुनरुक्तभयादपि ॥ ८३ ॥
किञ्चिद्भूम्यादिजीवानां चतुर्णां प्रोक्तलक्ष्मणाम् ।
धातुचतुष्कमेतेषां संज्ञास्याज्जिनशासनात् ॥ ८४ ॥
अथ धातुचतुष्काङ्गाः सम्भवन्त्यप्रतिष्ठिताः ।
साधारणनिकोताङ्गैस्तैर्वनस्पतिकायिकैः ॥ ८५ ॥

उक्तं च ।

पुढवी आइचउण्हं तित्थयराहारदेवणिरयंगा ।
अपदिट्ठिदा णिगोदै पदिट्ठिदंगा हवे सेसा ॥

किन्तु धातुचतुष्कस्य पिण्डे सूच्यग्रमात्रके ।
एकाक्षाः सन्त्यसंख्याता नानन्ता नापिसंख्यकाः ॥ ८६ ॥
अयमर्थः पृथिव्यादिकाये यत्नो विधीयताम् ।
तद्वधादिपरित्यागवृत्त्यभावेपि श्रावकैः ॥ ८७ ॥
अनन्तानन्तजीवास्तु स्युर्वनस्पतिकायिकाः ।
पूर्ववत्तेपि सूक्ष्माश्च वादराश्चेति भेदतः ॥ ८८ ॥
पर्याप्तापर्याप्तकाश्च प्रत्येकं चेति ते द्विधा ।
प्रत्येकाः साधारणाश्च विज्ञेया जैनशासनात् ॥ ८९ ॥
सूक्ष्मवादरपर्याप्तापर्याप्तानां च लक्ष्णम् ।
ज्ञातव्यं यत्प्रागत्रैव निर्दिष्टं नातिविस्तरात् ॥ ९० ॥

साधारणा निकोताश्च सन्त्येवैकार्थवाचकाः ।
घृतघटवद्यैः सूक्ष्मैर्लोकोयं संभृतोखिलः ॥ ९१ ॥
आधाराधेयहेतुत्वाद् वादराः स्युः कचित्कचित् ।
तेपि प्रतिष्ठिताः केचिन्निकोतैश्चाप्रतिष्ठिताः ॥ ९२ ॥
तैराश्रिता यथा प्रोक्ताः प्रागितो मूलकादयः ।
अनाश्रिता यथैतैश्च व्रीह्यश्चणकादयः ॥ ९३ ॥
तत्रैकस्मिन् शरीरेपि सन्त्यनन्ताश्च प्राणिनः ।
प्रत्येकाश्च निकोताश्च नाम्ना सूत्रेषु संज्ञिताः ॥ ९४ ॥

उक्तं च ।

एय णिगोयसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।
सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥
फलमेतावदुक्तस्य तद्बोधस्याथवार्थतः ।
यत्नस्तद्रक्षणे कार्यः श्रावकैर्दुःखभीरुभिः ॥ ९५ ॥
उक्तमेकाक्षजीवानां संक्षेपाल्लक्षणं यथा ।
साम्प्रतं द्वीन्द्रियादीनां त्रसानां वच्मि लक्षणम् ॥ ९६ ॥
तल्लक्षणं यथा सूत्रे त्रसाःस्युर्द्वीन्द्रियादयः ।
पर्याप्तापर्याप्तकाश्च प्रत्येकं ते द्विधा मताः ॥ ९७ ॥
कृमयो द्वीन्द्रियाः प्रोक्तास्त्रीन्द्रियाश्च पिपीलिकाः ।
प्रसिद्धसंज्ञकाश्चैते भ्रमराश्चतुरिन्द्रियाः ॥ ९८ ॥
पञ्चेन्द्रिया द्विधा ज्ञेयाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनस्तथा ।
संज्ञिनस्तत्र पञ्चाक्षाः देवनारकमानुषाः ॥ ९९ ॥
तिर्यञ्चस्तत्र पञ्चाक्षाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनस्तथा ।
प्रत्येकं ते द्विधा ज्ञेया सम्मूर्च्छिमाश्च गर्भजाः ॥ १०० ॥
लब्ध्यपर्याप्तकास्तत्र तिर्यञ्चो मनुजाश्च ये ।
असंज्ञिनो भवन्त्येव सम्मूर्च्छिमा न गर्भजाः ॥ १०१ ॥
इति संक्षेपतोप्यत्र जीवस्थानान्यचीकथत् ।
तत्स्वरूपं परिज्ञाय कर्तव्या करुणा जनैः ॥ १०२ ॥

व्यपरोपणं प्राणानां जीवाद्विश्लेषकारणम् ।
नाशकारणसामग्री सांनिध्यं वा बहिष्कृतम् ॥ १०३ ॥
अर्थात्तज्जीवद्रव्यस्य नाशो नैवात्र दृश्यते ।
किन्तु जीवस्य प्राणेभ्यो वियोगो व्यपरोपणम् ॥ १०४ ॥
ननु प्राणवियोगोपि स्यादनित्यः प्रमाणसात् ।
यतः प्राणान्तरान् प्राणी लभते नात्र संशयः ॥ १०५ ॥
मैवं प्राणान्तरप्राप्तौ पूर्वप्राणप्रपीडनात् ।
प्राणभृद्दुःखमाप्नोति निर्वाच्यं मारणान्तिकम् ॥ १०६ ॥
कर्मासातं हि बध्नाति प्राणिनां प्राणपीडनात् ।
येन तेन न कर्तव्या प्राणिपीडा कदाचन ॥ १०७ ॥
ततो न्यायागतं चैतद्यद्बाधाकरं चितेः ।
कायेन मनसा वाचा तत्तत्सर्वं परित्यजेत् ॥ १०८ ॥
तस्मात्त्वं मा वदासत्यं चौर्यं माचर पापकृत् ।
माकुरु मैथुनं काञ्चिन्मूर्च्छां वत्स परित्यज ॥ १०९ ॥
यतः क्रियाभिरेताभिः प्राणिपीडा भवेद् ध्रुवम् ।
प्राणिनां पीडयावश्यं बन्धः स्यात्पापकर्मणः ॥ ११० ॥
तदेकाक्षादिपञ्चाक्षपर्यन्ते दुःखभीरुणा ।
दातव्यं निर्भयं दानं मूलं व्रततरोरिव ॥ १११ ॥
नन्वेवमीर्यासमितौ सावधानेमुनावपि ।
अतिव्याप्तिर्भवेत्कालप्रेरितस्य मृतौ चितः ॥ ११२ ॥
मैवं प्रमत्तयोगत्वाद्धेतोरध्यक्षजाग्रतः ।
तस्याभावान्मुनौ तत्र नातिव्याप्तिर्भविष्यति ॥ ११३ ॥
एवं यत्रापि चान्यत्र मुनौ वा गृहमेधिनि ।
नैव प्रमत्तयोगोस्ति न बन्धो बन्धहेतुकः ॥ ११४ ॥

१ घातं । २ जीवस्य ।

उक्तं च ।

[1]मरदुव जीवदु जीवो अयदा[2]चारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थिबंधो हिंसामित्तेण विरदस्स ॥

ननु प्रमत्तयोगो यस्त्याज्यो हेयः स एव च ।
प्राणिपीडा भवेन्मा वा कामचारोस्तु देहिनाम् ॥ ११५ ॥
मैवं स्यात्कामचारोऽस्मिन्नवश्यं प्राणिपीडनात् ।
विना प्रमत्तयोगाद्वै कामचारो न दृश्यते ॥ ११६ ॥

उक्तं च ।

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनाम् ।
[3]तदायतनमेव सा किल निरर्गला[4] व्यावृतिः ॥
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां ।
द्वयं न हि विरुद्ध्यते किमु करोति जानाति च ॥

सिद्धमेतावता नूनं त्याज्या हिंसादिका क्रिया ।
त्यक्तायां प्रमत्तयोगस्तत्रावश्यं निवर्तते ॥ ११७ ॥
अत्यक्तायां तु हिंसादिक्रियायां द्रव्यरूपतः ।
भावः प्रमत्तयोगोपि न कदाचिन्निवर्तते ॥ ११८ ॥
ततः साधीयसी मैत्री श्रेयसे द्रव्यभावयोः ।
न श्रेयान् कदाचिद्वै विरोधो वा मिथोनयोः ॥ ११९ ॥
ननु हिंसा निषिद्धा स्याद्यदुक्तं तद्धि सम्मतः ।
तस्य देशतो विरति स्तत्कथं तद्वदाद्य नः ॥ १२० ॥
उच्यते श्रृणु भो प्राज्ञ तच्छ्रोतुंकाम फामन ।
देशतो विरतेर्लक्ष्म हिंसाया वच्मि साम्प्रतम् ॥ १२१ ॥
अत्रापि देशशब्देन विशिष्टोंशो विवक्षितः ।
न यथाकाममात्मोत्थं कश्चिदन्यतमोंशकः ॥ १२२ ॥

---

१ म्रियते वा जीवतु जीवः अयत्नाचारस्य निश्चिता हिंसा । प्रयतस्य नास्ति बन्धः हिंसामात्रेण विरतस्य ॥ २ प्रमत्तस्य । ३ प्रमादगृहं अज्ञानस्य गृहम् । ४ अतः कारणात् ज्ञानिनां निरर्गलं चरितुं न इष्यते ।

देशशब्दोऽत्र स्थूलार्थे तथा भावाद्विवक्षितः ।
कारणात्स्थूलहिंसादेस्त्यागस्यैवात्र दर्शनात् ॥ १२३ ॥
स्थूलत्वमार्दवं स्थूलत्रसरक्षादिगोचरम् ।
अतिचाराविनाभूतं सातिचारं च सास्रवम् ॥ १२४ ॥
तद्यथा यो निवृत्तः स्याद्यावत्त्रसवधादिह ।
न निवृत्तस्तथा पंचस्थावरहिंसया गृही ॥ १२५ ॥
विरताविरताख्यः स स्यादेकस्मिन्ननेहसि ।
लक्षणात्त्रसहिंसायास्त्यागेऽणुव्रतधारकः ॥ १२६ ॥

उक्तं च ।

जो तसवहाउविरओ अविरओ तह थावर वहाओ ।
एकसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥

अत्र तात्पर्यमेवैतत्सर्वारम्भेण श्रूयताम् ।
त्रसकायबधाय स्यात्क्रिया त्याज्याऽहितावती ॥ १२७ ॥
क्रियायां यत्र विख्यातस्त्रसकायबधो महान् ।
तां तां क्रियामवश्यं स सर्वामपि परित्यजेत् ॥ १२८ ॥
अत्राप्याशङ्कते कश्चिदात्मप्रज्ञापराधतः ।
कुर्याद्धिंसां स्वकार्याय न कार्या स्थावरक्षतिः ॥ १२९ ॥
अयं तेषां विकल्पो यः स्याद्वा कपोलकल्पनात् ।
अर्थाभासस्य भ्रान्तेर्वा नैवं सूत्रार्थदर्शनात् ॥ १३० ॥
तद्यथा सिद्धसूत्रार्थे दर्शितं पूर्वसूरिभिः ।
तत्रार्थोयं विना कार्यं न कार्या स्थावरक्षतिः ॥ १३१ ॥
एतत्सूत्र विशेषार्थेऽनवदत्तावधानकैः ।
नूनं तैः स्खलितं मोहात्सर्वसामान्यसङ्ग्रहात् ॥ १३२ ॥
किञ्च कार्यं विना, हिंसां न कुर्यादितिधीमता ।
दृष्टेस्तुर्यगुणस्थाने कृतार्थत्वाद्दृगात्मनः ॥ १३३ ॥
तदुक्तं गोम्मटसारे सिद्धान्ते सिद्धसाधने ।
तत्सूत्रं च यथाम्नायात्प्रतीत्यै वच्मिसाम्प्रतम् ॥ १३४ ॥

उक्तं च ।

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं च सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥
अत्र सूत्रे चकारस्य ग्रहणं विद्यते स्फुटम् ।
तस्यार्थष्टीकाकारेण टीकायां प्रकटीकृतः ॥ १३५ ॥
टीका व्याख्या यथा कश्चिज्जीवो यः सम्यग्दृष्टिमान् ।
उपदिष्टं प्रवचनं जिनोक्तं श्रद्दधाति सः ॥ १३६ ॥
चकारग्रहणादेव न कुर्यात्त्रसहिंसनम् ।
विना कार्यं कृपार्द्रत्वात्प्रशमादिगुणान्वितः ॥ १३७ ॥
एवमित्यत्र विख्यातं कथितं च जिनागमे ।
स एवार्थो यद्यत्रापि व्रतित्वं हि कुतोऽर्थतः ॥ १३८ ॥
तत्पञ्चमगुणस्थाने दिग्मात्रं व्रतमिच्छता ।
त्रसकायबधार्थं या क्रिया त्याज्याखिलापि च ॥ १३९ ॥
ननु जलानलोर्व्यैत्रसद्वनस्पतिकेषु च ।
प्रवृत्तौ तच्छ्रिताङ्गानां त्रसानां तत्र का कथा ॥ १४० ॥
नैष दोषोल्पदोषत्वाद्यद्वा शक्यविवेचनात् ।
निष्प्रमादतया तत्र रक्षणे यत्नतत्परात् ॥ १४१ ॥
एवं चेत्तर्हि कृष्यादौ को दोषस्तुल्यकारणात् ।
अशक्यपरिहारस्य तद्वत्तत्रापि सम्भवात् ॥ १४२ ॥
अपि तत्रात्मनिन्दादिभावस्यावश्यभावतः ।
प्रमत्तयोगाद्यभावस्य यथास्वं सम्भवादपि ॥ १४३ ॥
जलादावपि विख्यातास्त्रसाः सन्त्युपलब्धितः ।
कृष्यादौ च त्रसाः सन्ति विख्याता क्षितिमण्डले ॥ १४४ ॥
नैवं यतोऽनभिज्ञोसि हिंसाणुव्रतलक्षणे ।
सतृणाभ्यवहारित्वं भुंजानो द्विरदादिवत् ॥ १४५ ॥

---

१ 'ख' पुस्तके "वास्ति" इति पाठः ।

वच्म्यहं लक्षणं तस्य सावधानतया श्रृणु ।
क्षणं प्रमादमुत्सृज्य गर्हितावद्यकारणम् ॥ १४६ ॥
अणुत्वमल्पीकरणं तच्च गृद्धेरिहार्थतः ।
यथावद्यस्य हिंसादेर्हृषीकविषयस्य च ॥ १४७ ॥
कृष्यादयो महारम्भाः क्रूरकर्मार्जनक्षमाः ।
तत्क्रियानिरतो जीवः कुतोऽहिंसावकाशवान् ॥ १४८ ॥
नचाशङ्क्यं हि कृष्यादिमहारम्भे क्रिया तु या ।
सत्स्वल्पीकरणं चार्थाद्धिंसाणुव्रतमिष्यते ॥ १४९ ॥
यतः स्वल्पीकृतोप्यत्र महारम्भः प्रवर्तते ।
महावद्यस्य हेतुत्वात्तद्वान्नाणुव्रती भवेत् ॥ १५० ॥
अलं वा बहुनोक्तेन वावदूकतयाप्यलम् ।
त्रसहिंसाक्रिया त्याज्या हिंसाणुव्रतधारिणा ॥ १५१ ॥
ननु त्यक्तुमशक्यस्य महारम्भानशेषतः ।
इच्छतः स्वल्पीकरणं कृष्यादेस्तस्य का गतिः ॥ १५२ ॥
अस्ति सम्यग्गतिस्तस्य साधु साधीयसी जिनैः ।
कार्या पुण्यफलाश्लाघ्या क्रियामुत्रेह सौख्यदा ॥ १५३ ॥
यथाशक्ति महारम्भात्स्वल्पीकरणमुत्तमम् ।
विलम्बो न क्षणं कार्यो नात्र कार्या विचारणा ॥ १५४ ॥
हेतुरस्त्यत्र पापस्य कर्मणः संवरोंशतः ।
न्यायागतः प्रवाहश्च न केनापि निवार्यते ॥ १५५ ॥
साधितं फलवन्न्यायात्प्रमाणितं जिनागमात् ।
युक्तेः स्वानुभवाच्चापि कर्तव्यं प्रकृतं महत् ॥ १५६ ॥
तत्रागमो यथा सूत्रादाप्तवाक्यं प्रकीर्तितम् ।
पूर्वापराविरुद्धं यत्प्रत्यक्षाद्यैरबाधितम् ॥ १५७ ॥

उक्तं च ।

यथार्थदर्शिनः पुंसो यथादृष्टार्थवादिनः ।
उपदेशः परार्थो यः स इहागम उच्यते ॥

आगमः स यथा द्वेधा हिंसादेरपकर्षणम् ।
यमादेकं द्वितीयं तु नियमादेव केवलात् ॥ १५८ ॥
यमस्तत्र यथा यावज्जीवनं प्रतिपालनम् ।
दैवाद्घोरोपसर्गेपि दुःखे वामरणावधि ॥ १५९ ॥
यमोपि द्विविधो ज्ञेयः प्रथमः प्रतिमान्वितः ।
अन्यः सामान्यमात्रत्वात्स्पष्टं तल्लक्षणं यथा ॥ १६० ॥
यावज्जीवं त्रसानां हि हिंसादेरपकर्षणम् ।
सर्वतस्तत्क्रियायाश्चेत्प्रतिमारूपमुच्यते ॥ १६१ ॥
अथसामान्यरूपं तद्यदल्पीकरणं मनाक् ।
यावज्जीवनमप्येतद्देशतो न (तु) सर्वतः ॥ १६२ ॥
आह कृषीवलः कश्चिद्द्विशतं न च करोम्यहम् ।
शतमात्रं करिष्यामि प्रतिमास्य न कापि सा ॥ १६३ ॥
नियमोपि द्विधा ज्ञेयः सावधिर्जीवनावधिः ।
त्रसहिंसाक्रियायाश्च यथाशक्त्यपकर्षणम् ॥ १६४ ॥
सावधिः स्वायुषोयावदर्वागेव व्रतावधिः ।
ऊर्ध्वं यथात्मसामर्थ्यं कुर्याद्वा न यथेच्छया ॥ १६५ ॥
पुनः कुर्यात्पुनस्त्यक्त्वा पुनः कृत्वा पुनस्त्यजेत् ।
न त्यजेद्वा न कुर्याद्वा कारं कारं करोति च ॥ १६६ ॥
अस्ति कश्चिद्विशेषोपि द्वयोर्यमनियमयोः ।
नियमो दृक्प्रतिमायां व्रतस्थाने यमो मतः ॥ १६७ ॥
अयं भावो व्रतस्थाने या क्रियाभिमता सताम् ।
तां सामान्यतः कुर्वन्सामान्ययम उच्यते ॥ १६८ ॥
प्रतिमायां क्रियार्था तु प्रागेवात्रापि सूचिता ।
यावज्जीवं हि तां कुर्वन्नियमोऽनवधिः स्मृतः ॥ १६९ ॥

---

१ " दुःखं वा " इति क पुस्तके पाठः ।

उक्तं सम्यक् परिज्ञाय गृहस्थो व्रतमाचरेत् ।
यथाशक्ति यथाकालं यथादेशं यथावयः ॥ १७० ॥
त्रसहिंसाक्रियात्यागो यदि कर्तुं न शक्यते ।
व्रतस्थानाग्रहेणालं दर्शनेनैव पूर्यताम् १७१ ॥
व्रतस्थानक्रियां कर्तुमशक्योपि यदीप्सति ।
व्रतंमन्योपि संमोहाद्व्रताभासोस्ति न व्रती ॥ १७२ ॥
अलं कोलाहलेनालं कर्तव्याः श्रेयसः क्रियाः ।
फलमेव हि साध्यं स्यात्सर्वारम्भेण धीमता ॥ १७३ ॥
त्रसहिंसाक्रियात्यागशब्दः स्यादुपलक्षणम् ।
तेन भूकायिकादींश्च निःशङ्कं नोपमर्दयेत् ॥ १७४ ॥
किन्तु चैकाक्षजीवेषु भूजलादिषु पञ्चसु ।
अहिंसाव्रतशुद्ध्यर्थं कर्तव्यो यत्नो महान् ॥ १७५ ॥
त्रसहिंसाक्रियात्यागी महारम्भं परित्यजेत् ।
नारकाणां गतेर्बीजं नूनं तद्दुःखकारणम् ॥ १७६ ॥

उक्तं च ।

मिच्छो हु महारंभो निस्सीलो तिव्वलोहसंजुत्तो ।
निरयाउगं णिबद्धइ पावमयी रुद्दपरिणामो ॥
क्रूरं कृष्यादिकं कर्म सर्वतोपि न कारयेत् ।
वाणिज्यार्थं विदेशेषु शकटादि न प्रेषयेत् ॥ १७७ ॥
क्रयविक्रयवाणिज्ये क्रयेद्वस्तु त्रसोज्झितम् ।
विक्रयेद्वा तथा वस्तु नूनं सावद्यवर्जितम् ॥ १७८ ॥
वाणिज्यार्थं न कर्तव्योऽतिकाले धान्यसंग्रहः ।
घृततैलगुडादीनां भाण्डागारं न कारयेत् ॥ १७९ ॥
लाक्षालोष्टक्षणक्षारशस्त्रचर्मादिकर्मणाम् ।
हस्त्यश्ववृषादीनां चतुष्पदानां च यावताम् ॥ १८० ॥
द्विपदानां च वाणिज्यं न कुर्याद्व्रतवानिह ।
महारम्भो भवत्येव पशुपाल्यादिकर्मणि ॥ १८१ ॥

शुककुक्कुरमार्जारीकपिसिंहमृगादयः ।
न रक्षणीयाः स्वामित्वे महाहिंसाकरा यतः ॥ १८२ ॥
इत्यादिकाश्च यावन्त्यः क्रियास्त्रसवधात्मिकाः ।
न कर्तव्यास्त्रसानां हि हिंसाणुव्रतधारिभिः ॥ १८३ ॥
सर्वसागारधर्मेषु देशशब्दोऽनुवर्तते ।
तेनानगारयोग्यायाः कर्तव्यास्ता अपि क्रियाः ॥ १८४ ॥
यथा समितयः पञ्च सन्ति तिस्रश्च गुप्तयः ।
अहिंसाव्रतरक्षार्थं कर्तव्या देशतोऽपि तैः ॥ १८५ ॥
उक्तं तत्त्वार्थसूत्रेषु यत्तत्रावसरे यथा ।
व्रतस्थैर्याय कर्तव्या भावना पञ्च पञ्च च ॥ १८६ ॥

तत्सूत्रं यथा—"तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च" तत्रापि हिंसात्यागव्रतरक्षार्थं—" वाग्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च"

नचाशङ्क्यमिमाः पञ्च भावना मुनिगोचराः ।
न पुनर्भावनीयास्ता देशतो व्रतधारिभिः ॥ १८७ ॥
यतोऽत्र देशशब्दो हि सामान्यादनुवर्तते ।
ततोऽणुव्रतसंज्ञेषु व्रतत्वान्नाव्यापको भवेत् ॥ १८८ ॥
अलं विकल्पसंकल्पैः कर्तव्या भावना इमाः ।
अहिंसाव्रतरक्षार्थं देशतोऽणुव्रतादिवत् ॥ १८९ ॥
तत्र वाग्गुप्तिरित्युक्ता त्रसबाधाकरं वचः ।
न वक्तव्यं प्रमादाद्वा बधबन्धादिसूचकम् ॥ १९० ॥
अवश्यंभाविकार्येपि वक्तव्यं सकृदेव तत् ।
धर्मकार्येषु वक्तव्यं यद्वा मौनं समाश्रयेत् ॥ १९१ ॥
मनोगुप्तिर्यथानाम त्रसच्छेदे न चिन्तयेत् ।
समुत्पन्नेपि तत्कार्ये जने वा सापराधिनि ॥ १९२ ॥
सङ्ग्रामादिविधौ चिन्तां न कुर्यान्नैष्ठिको व्रती ।
अव्रती पाक्षिकः कुर्याद्दैवयोगात्कदाचन ॥ १९३ ॥

नैष्ठिकोऽपि यदा क्रोधान्मोहाद्वा सङ्गराक्रियाम् ।
कुर्यात्तावतिकाले स भवेदात्मव्रताच्च्युतः ॥ १९४ ॥
त्रसहिंसाक्रियायां वा नापि व्यापारयेन्मनः ।
मोहाद्वापि प्रमादाद्वा स्वामिकार्येकृतेऽपि वा ॥ १९५ ॥
वीतरागोक्तधर्मेषु हिंसावद्यं न वर्तते ।
रूढिधर्मादिकार्येषु न कुर्यात्त्रसहिंसनम् ॥ १९६ ॥
रूढिधर्मे निषिद्धा चेत्कामार्थयोस्तु का कथा ।
मज्जन्ति द्विरदा यत्र मशकास्तत्र किं पुनः ॥ १९७ ॥
हृषीकार्थादिदुर्ध्यानं वञ्चनार्थं स नैष्ठिकः ।
चिन्तयेत्परमात्मानं स्वं शुद्धं चिन्मयं महः ॥ १९८ ॥
यद्वा पञ्चपरमेष्ठिस्वरूपं चिन्तयेन्मुहुः ।
यद्वा त्रैलोक्यसंस्थानं जीवांस्तद्वर्तिनोऽथवा ॥ १९९ ॥
जगत्कायस्वभावौ वा चिन्तयेत्तन्मुहुर्मुहुः ।
द्वादशात्राप्यनुप्रेक्षाः धारयेन्मनसि ध्रुवम् ॥ २०० ॥
यद्वा दृष्टिचरानत्र जिनबिम्बांश्च चिन्तयेत् ।
मुनीन् देवालयांश्चापि तत्पूजादिविधीनपि ॥ २०१ ॥
इत्याद्यालम्बनांश्चित्ते भावयेद्भावशुद्धये ॥
न भावयेत्कदाचिद्वै त्रसहिंसां क्रियां प्रति ॥ २०२ ॥
उक्ता वाग्गुप्तिरत्रैव मनोगुप्तिस्तथैव च ।
अधुना कायगुप्तेश्च भेदान् गृह्णातिसूत्रवित् ॥ २०३ ॥
तत्रेर्यादाननिःक्षेपभावनाःकायसंश्रिताः ।
भावनीयाः सदाचारैराजवंजवविच्छिदे ॥ २०४ ॥
अत्रेर्यावचनं यावद्धर्मोपकरणं मतम् ।
तस्यादानं च निःक्षेपःसमासात्तत्तथा स्मृतः ॥ २०५ ॥
अस्यार्थो मुनिसापेक्षः पिच्छका च कमण्डलुः ।
त्रसरक्षाव्रतापेक्षः पूजोपकरणानि च ॥ २०६ ॥

घण्टाचामरदीपाम्भः परछत्रध्वजादिकान् ।
स्नानाद्यर्थं जलार्दींश्च धौतवस्त्रादिकानपि ॥ २०७ ॥
देशनावसरे शास्त्रं दानकाले तु भोजनम् ।
काष्ठपट्टादिकं शुद्धं काले सामायिकेऽपि च ॥ २०८ ॥
इत्याद्यनेक भेदानि धर्मोपकरणानि च ।
निष्प्रमादतया तत्र कार्यो यत्नो बुधैर्यथा ॥ २०९ ॥
दृग्भ्यां सम्यग्निरीक्ष्यादौ यत्नतः प्रतिलेखयेत् ।
समादाय ततस्तत्र कार्ये व्यापारयत्यपि ॥ २१० ॥
दृष्टिपूतं यथादानं निक्षेपोपि यथा स्मृतः ।
दृष्ट्वा स्थानादिकं शुद्धं तत्र तानि विनिक्षिपेत् ॥ २११ ॥
इतः समितयः पञ्च वक्ष्यन्ते नातिविस्तरात् ।
ग्रन्थगौरवतोऽप्यत्र नोक्तास्ताः संयतोचिताः ॥ २१२ ॥
संयतासंयतस्यास्य प्रोक्तस्य गृहमेधिनः ।
समितयो या योग्याः स्युर्वक्ष्यन्ते ताः क्रमादपि ॥ २१३ ॥
ईर्यासमितिरप्यस्ति कर्तव्या गृहमेधिना ।
अत्रेर्याशब्दो वाच्योस्ति मार्गोऽयं गतिगोचरः ॥ २१४ ॥
दृष्ट्वा दृष्ट्वा शनैः सम्यग्युगदघ्नां धरां पुरः ।
निष्प्रमादो गृही गच्छेदीर्यासमितिरुच्यते ॥ २१५ ॥
किञ्च तत्र विवेकोस्ति विधेयस्त्रसरक्षकैः ।
बहुत्रसाकुले मार्गे नं गन्तव्यं कदाचन ॥ २१६ ॥
तत्र विचार्यो प्रागेव देशकालगतिर्यथा ।
प्रष्टव्याः साधवो यद्वा तत्तन्मार्गावलोकिनः ॥ २१७ ॥
निश्चित्य प्रासुकं मार्गं बहुत्रसैरनाश्रितम् ।
ईर्यासमितिसंशुद्धस्तत्र गच्छेन्नचान्यथा ॥ २१८ ॥
गच्छंस्तत्रापि दैवाच्चेत्पुरोमार्गस्त्रसाकुलः ।
तदा व्याघुट्टनं कुर्यात्कुर्याद्वा वीरकर्मतत् ॥ २१९ ॥

वीरकर्म यथा तत्र पर्यङ्काद्यासनेन वा ।
कायोत्सर्गेण वा तिष्ठेद्योगिवद्योगमार्गवित् ॥ २२० ॥
यावत्तस्योपसर्गस्य निवृत्तिर्वा वपुःक्षतिः ।
यद्वावधियथाकालं नीत्वाऽस्तीतस्ततो गतिः ॥ २२१ ॥
सर्वारम्भेण तात्पर्यं प्रत्यक्षात्त्रससङ्कुले ।
मार्गे पादौ न क्षेप्तव्यौ व्रतिनां मरणावधि ॥ २२२ ॥
किञ्च रजन्यां गमनं न कर्तव्यं दीर्घेऽध्वनि ।
दृष्टिचरे शुद्धे स्वल्पे न निषिद्धा मार्गेगतिः ॥ २२३ ॥
अश्वाद्यारोहणं मार्गे न कार्यं व्रतधारिणा ।
ईर्यासमितिसंशुद्धिः कुतःस्यात्तत्र कर्मणि ॥ २२४ ॥
इतीर्यासमितिः प्रोक्ता संक्षेपाद्व्रतधारिणः ।
यद्वोपासकाध्ययनात् ज्ञातव्यातीवविस्तरात् ॥ २२५ ॥
अप्यस्ति भाषासमितिः कर्तव्या सद्मवासिभिः ।
अवश्यं देशमात्रत्वात्सर्वथा मुनिकुञ्जरैः ॥ २२६ ॥
वचो धर्माश्रितं वाच्यं वरं मौनमथाश्रयेत् ।
हिंसाश्रितं न तद्वाच्यं भाषासमितिरिष्यते ॥ २२७ ॥
इतिसंक्षेपतस्तस्या लक्षणं चात्र सूचितम् ।
मृषात्यागव्रताख्याने वक्ष्यामीषत्सविस्तरात् ॥ २२८ ॥
एषणासमितिः कार्या श्रावकैर्धर्मवेदिभिः ।
यया सागारधर्मस्य स्थितिर्मुनिव्रतस्य च ॥ २२९ ॥
यतो व्रतसमूहस्य शरीरं मूलसाधनम् ।
आहारस्तस्य मूलं स्यादेषणासमितावसौ ॥ २३० ॥
एषणासमितिर्नाम्ना संक्षेपाल्लक्षणादपि ।
आहारशुद्धिराख्याता सर्वव्रतविशुद्धये ॥ २३१ ॥
उक्तमांसाद्यतीचारैर्वर्जितो योऽशनादिकः ।
स एव शुद्धो नान्यस्तु मांसातीचारसंयुतः ॥ २३२ ॥

सोपि शुद्धो यथाभक्तं यथाकालं यथाविधिः ।
अन्यथा सर्वशुद्धोऽपि स्यादशुद्धवदेनकृत् ॥ २३३ ॥
काले पूर्वाह्निके यावत्परतोऽपराह्णेऽपि च ।
यामस्यार्द्धं न भोक्तव्यं निशायां चापि दुर्दिने ॥ २३४ ॥
याममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लंघयेत् ।
आहारस्यास्त्ययं कालो नौषधादेर्जलस्य वा ॥ २३५ ॥
सङ्ग्रामादिदिने हिंस्रे चन्द्रसूर्याद्युपग्रहे ।
अन्यत्राप्यवयोगेषु भोजनं नैव कारयेत् ॥ २३६ ॥
उच्यते विधिरत्रापि भोजयेन्नाशुचिगृहे ।
तमश्छन्नेऽथ त्रसादिबहुजन्तुसमाश्रिते ॥ २३७ ॥
जैमनीयादिजीवानां हिंस्राणां दृष्टिगोचरे ।
अश्वादिपशुसङ्कीर्णे स्थाने भोज्यं न जातुचित् ॥ २३८ ॥
अन्तरायाश्च सन्त्यत्र श्रावकाचारगोचराः ।
अवश्यं पालनीयास्ते त्रसहिंसानिवृत्तये ॥ २३९ ॥
दर्शनात्स्पर्शनाच्चैव मनसि स्मरणादपि ।
श्रवणाद्गन्धनाच्चापि रसनादन्तरायकाः ॥ २४० ॥
दर्शनात्तद्यथा सार्द्रं मांसमश्रं वसाऽजिनम् ।
अस्थ्यादि भोजनस्यादौ सद्यो दृष्ट्वा न भोजयेत् ॥ २४१ ॥
शुष्कचर्मास्थिलोमादिस्पर्शनान्नैव भोजयेत् ।
मूषकादिपशुस्पर्शात्त्यजेदाहारमंजसा ॥ २४२ ॥
गन्धनान्मद्यगन्धेव पूतिगन्धेव तत्समे ।
आगते घ्राणमार्गे च नान्नं भुंजीत दोषवित् ॥ २४३ ॥
प्राक् परिसंख्यया त्यक्तं वस्तुजातं रसादिकम् ।
भ्रान्त्या विस्मृतमादाय त्यजेद्भोज्यमसंशयम् ॥ २४४ ॥

१ "अश्रमश्रुच" इत्यमरः, प्रदराभङ्गनारीरुक् बाणाः अस्राकचा अपि इत्यमरः ।

आमगोरससंपृक्तं द्विदलान्नं परित्यजेत् ।
लालायाःस्पर्शमात्रेण त्वरितं बहुमूर्च्छनात् ॥ २४५ ॥
भोज्यमध्यादशेषांश्च दृष्ट्वा त्रसकलेवरान् ।
यद्वा समूलतो रोम दृष्ट्वा सद्यो न भोजयेत् ॥ २४६ ॥
चर्मतोयादिसाम्मिश्रात्सदोषमशनादिकम् ।
परिज्ञायेङ्गितैः सूक्ष्मैः कुर्यादाहारवर्जनम् ॥ २४७ ॥
श्रवणाद्धिंसकं शब्दं मारयामीति शब्दवत् ।
दग्धो मृतः स इत्यादि श्रुत्वा भोज्यं परित्यजेत् ॥ २४८ ॥
शोकाश्रितं वचः श्रुत्वा मोहाद्वा परिदेवनम् ।
दीनं भयानकं श्रुत्वा भोजनं त्वरितं त्यजेत् ॥ २४९ ॥
उपमानोपमेयाभ्यां तदिदं पिशितादिवत् ।
मनःस्मरणमात्रत्वात्कृत्स्नमन्नादिकं त्यजेत् ॥ २५० ॥
सूतकं पातकं चापि यथोक्तं जैनशासने ।
एषणाशुद्धिसिद्ध्यर्थं वर्जयेच्छ्रावकाग्रणीः ॥ २५१ ॥
एषणासमितिःख्याता संक्षेपात्सारसंग्रहात् ।
तत्रान्तराद्विशेषज्ञैर्ज्ञातव्यास्ति सुविस्तरात् ॥ २५२ ॥
अस्ति चादाननिक्षेपस्वरूपा समितिः स्फुटम् ।
वस्त्राभरणपात्रादिनिखिलोपधिगोचराः ॥ २५३ ॥
यावन्त्युपकरणानि गृहकर्मोचितानि च ।
तेषामादाननिक्षेपौ कर्तव्यौ प्रतिलेख्य च ॥ २५४ ॥
प्रतिष्ठापननाम्नी च विख्याता समितिर्यथा ।
श्रवद्वपुर्देशद्वारा मलमूत्रादिगोचरा ॥ २५५ ॥
निश्छिद्रं प्रासुकं स्थानं सर्वदोषविवर्जितम् ।
दृष्ट्वा प्रमार्ज्य सागारो वर्चोमूत्रादि निक्षिपेत् ॥ २५६ ॥
अस्ति चालोकितपानभोजनाख्याथ पञ्च ताः ।
भावना भावनीया स्यादहिंसाव्रतहेतवे ॥ २५७ ॥

शुद्धं शोधितं चापि सिद्धं भक्तादिभोजनम् ।
सावधानतया भूयो दृष्टिपूतं च भोजयेत् ॥ २५८ ॥
नचानध्यवसायेन दोषेणानवधानतः ।
मया दृष्टचरं चैतन्मत्वा भोज्यं न भोजयेत् ॥ २५९ ॥
तत्र यद्यपि भक्त्यादि शुद्धमस्तीति निश्चितम् ।
तथापि दोष एव स्यात्प्रमादादिकृतो महान् ॥ २६० ॥
सन्ति तत्राप्यतीचाराः पञ्च सूत्रेपि लक्षिताः ।
त्रसहिंसापरित्यागलक्षणेऽणुव्रताह्वये ॥ २६१ ॥

तत्सूत्रं यथा—बधबन्धच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ।

अत्रोक्तं बधशब्देन ताडनं यष्टिकादिभिः ।
प्रागेव प्रतिषिद्धत्वात्प्राणिहत्या न श्रेयसी ॥ २६२ ॥
पशूनां गोमहिष्यादिछागवारणवाजिनाम् ।
तन्मात्रातिरिक्तां बाधां न कुर्याद्वा कशादिभिः २६३ ॥
बन्धो मात्राधिको गाढं दुःखदं शृंखलादिभिः ।
आतताया (?) प्रमादाद्वा न कुर्याच्छ्रावकोत्तमः ॥ २६४ ॥
छेदो नाशादिछिद्रार्थः काष्ठसूलादिभिः कृतः ।
तावन्मात्रातिरिक्तं तन्नविधेयं प्रतिमान्वितैः ॥ २६५ ॥
सापराधे मनुष्यादौ कर्णनाशादि छेदनम् ।
न कुर्याद्भूपकल्पोऽपि व्रतवानपि कश्चन ॥ २६६ ॥
भारः काष्ठादिलोष्ठान्नघृततैलजलादिकम् ।
नेतुं क्षेत्रान्तरे क्षिप्रं मनुजांश्चत्रिकादिषु ॥ २६७ ॥
यावद्यस्यास्ति सामर्थ्यं तावत्तत्रैव निक्षिपेत् ।
नातिरिक्तं ततः क्वापि निक्षिपेद् व्रतधारकः ॥ २६८ ॥
दासीदासादिभृत्यानां बन्धुमित्रादिप्राणिनाम् ।
सामर्थ्यातिक्रमः क्वापि कर्तव्यो न विचक्षणैः ॥ २६९ ॥
अन्नपाननिरोधाख्यो व्रतदोषोस्ति पञ्चमः ।
तिरश्चां वा नराणां वा गोचरः स स्मृतो यथा ॥ २७० ॥

नराणां गोमहिष्यादितिरश्चां वा प्रमादतः ।
तृणाद्यन्नादिपातानां निरोधो व्रतदोषकृत् ॥ २७१ ॥
बहुप्रलपितेनालं ज्ञेयं तात्पर्यमात्रतः ।
सा क्रिया नैव कर्तव्या यथा त्रसबधो भवेत् ॥ २७२ ॥
इत्युक्तमात्रदिग्मात्रं सागारार्हमणुव्रतम् ।
त्रसहिंसापरित्यागलक्षणं विश्वसाक्षिभिः ॥ २७३ ॥

इति श्रीस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारद विद्वन्मणिराजमल्ल विरचितायां श्रावकाचारापरनाम लाटीसंहितायां साधुश्री दूदात्मज फामन मनःसरोजारविन्दविकाशनैक-मार्तण्डमण्डलायमानायां त्रसहिंसापरित्याग प्रथमाणुव्रत वर्णनो नाम पञ्चमः सर्गः ।

अथ षष्ठः सर्गः ।

त्रसहिंसापरित्यागलक्षणं यदणुव्रतम् ।
साधुदूदाङ्गजोद्दामफामनाख्यं पुनातु तत् ॥ १ ॥

इत्याशीर्वादः ।

अथमृषापरित्यागलक्षणं व्रतमुच्यते ।
सर्वतस्तन्मुनीनां स्याद्देशतो वेश्मवासिनाम् ॥ १ ॥
ग्राह्या तत्रानुवृत्तिः सा प्राग्वदत्रापि धीधनैः ।
प्रोक्तमसदभिधानमनृतं सूत्रकारकैः ॥ २ ॥
असदिति हिंसाकरमभिधानं स्याद्भाषणम् ।
शब्दानामनेकार्थत्वाद्वृतिश्चार्थानुसारिणी ॥ ३ ॥
नात्रासदिति शब्देन मृषामात्रं समस्यते ।
साकारमन्त्रभेदादौ सूनृतत्वानुषङ्गतः ॥ ४ ॥
देशतो विरतिस्तत्र सूत्रमित्यनुवर्तते ।
त्रसबाधाकरं तस्माद्वचो वाच्यं न धीमता ॥ ५ ॥

सत्यमप्यसत्यतां याति क्वचिद्धिंसानुबन्धतः ।
सर्वतस्तन्न वक्तव्यं यथा चोरादिदर्शनम् ॥ ६ ॥
असत्यं सत्यतां याति क्वचिज्जीवस्य रक्षणात् ।
अचक्षुषा मया चोरो न दृष्टोऽस्ति यथाध्वनि ॥ ७ ॥
तत्रासत्यवचस्त्यागव्रतरक्षार्थमेव याः ।
भावनाः पञ्च सूत्रोक्ताः भावनीया व्रतार्थिभिः ॥ ८ ॥

तत्सूत्रं यथा क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ।

यत्र क्रोधप्रत्याख्यानं वचो वाच्यं मनीषिभिः ।
स्वपराश्रितभेदेन तद्वचश्च द्विधोच्यते ॥ ९ ॥
स्वयं क्रोधेन सत्यं वा न वक्तव्यं कदाचन ।
न च वाच्यं वचस्तद्वत्परेषां क्रोधकारणम् ॥ १० ॥
यथा क्रोधस्तथा मानं माया लोभस्तथैव च ।
तेषामवद्यहेतुत्वे मृषावादाविशेषतः ॥ ११ ॥
हास्योज्झितं च वक्तव्यं न च हास्याश्रितं क्वचित् ।
तदपि द्विविधं ज्ञेयं स्वपरोभयभेदतः ॥ १२ ॥
स्वयं हास्यवता भूत्वा न वक्तव्यं प्रमादतः ।
न च वाच्यं परेषां वा हास्यहेतुर्विचक्षणैः ॥ १३ ॥
हास्योपलक्षणेनैव नोकषाया नवेति ये ।
तेपि त्याज्या मृषात्यागव्रतसंरक्षणार्थिभिः ॥ १४ ॥
भीरुत्वोत्पादकं रौद्रं वचो वाच्यं न श्रावकैः ।
अवश्यं बन्धहेतुत्वात्तीव्रासातादिकर्मणाम् ॥ १५ ॥
आलोचितं च वक्तव्यं न वाच्यमनालोचितम् ।
चौर्यादिविकथाख्यानं न वाच्यं पापभीरुणा ॥ १६ ॥

१ सत्यमसत्यतां याति ।

अत्रासत्यपरित्यागव्रतेऽतीचारपञ्चकम् ।
प्रामाणिकं प्रसिद्धं स्यात्सूत्रेप्युक्तं महर्षिभिः ॥ १७ ॥

तत्सूत्रं यथा—मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यान कूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ।

तत्र मिथ्योपदेशाख्यः परेषां प्रेरणं यथा ।
अहमेवं न वक्ष्यामि वद त्वं मम मन्मनात् ॥ १८ ॥
रहोभ्याख्यानमेकान्ते गुह्यवार्ताप्रकाशनम् ।
परेषां शङ्कया किञ्चिद्धेतोरस्त्यत्र कारणम् ॥ १९ ॥
कूटलेखक्रिया सा स्याद्वंचनार्थं लिपिर्मृषा ।
सा न साक्षात्तथा तस्या मृषानाचारसम्भात् ॥ २० ॥
किन्तु स्वल्पा यथा कश्चित्किञ्चित्प्रत्यूहानिस्पृहः ।
इदं मदीयपत्रेषु मदर्थं न लिपीकृतम् ॥ २१ ॥
न्यासस्याप्यपहारो यो न्यासापहार उच्यते ।
सोपि परस्य सर्वस्वहरो नैव स्वलक्षणात् ॥ २२ ॥
किञ्च कश्चिद्यथा सार्थः कस्यचिद्धनिनो गृहे ।
स्थापयित्वाधनादीनि स्वयं स्थानान्तरं गतः ॥ २३ ॥
वदत्येवं स लोकानां पुरस्तादिह निन्हवात् ।
धृतं न मे गृहे किञ्चित्तेनाऽमाऽर्थेन गच्छता ॥ २४ ॥
उक्तो न्यासापहारः स प्रसिद्धोऽनर्थसूचकः ।
मृषात्यागव्रतस्योच्चैः दोषः स्यात्सर्वतोमहान् ॥ २५ ॥
साकारमन्त्रभेदोपि दोषोतीचारसंज्ञकः ।
न वक्तव्यः कदाचिद्वै नैष्ठिकैः श्रावकोत्तमैः ॥ २६ ॥
दुर्लक्ष्यमर्थं गुह्यं यत्परेषां मनसि स्थितम् ।
कथंचिदिङ्गितैर्ज्ञात्वा न प्रकाश्यं व्रतार्थिभिः ॥ २७ ॥
ननु चैवं मदीयोऽयं ग्रामो देशोऽथवा नरः ।
इत्येवं यज्जगत्सर्वं वदत्येतन्मृषा वचः ॥ २८ ॥

मैवं प्रमत्तयोगाद्वै सूत्रादित्यनुवर्तते ।
तस्याभावान्न दोषोस्ति तद्भावे दोष एव हि ।। २९ ।।
एवं संव्यवहाराय स्याददोषो नयात्मके ।
नाम्नि च स्थापनायां च द्रव्ये भावे जगत्त्रये ।। ३० ।।
अस्ति स्तेयपरित्यागो व्रतं चाणु तथा महत् ।
देशतः सर्वतश्चापि त्यागद्वैविध्यसम्भवात् ।। ३१ ।।
तल्लक्षणं यथा सूत्रे सूक्तं सूत्रविशारदैः ।
अदत्तादानं स्तेयं स्यात्तदर्थः कथ्यतेऽधुना ।। ३२ ।।
अदत्तस्य यदादानं चौर्यमित्युच्यते बुधैः ।
अर्थात्स्वामिगृहीतार्थे सद्द्रव्ये नेतरे पुनः ।। ३३ ।।
अन्यथा सर्वलोकेस्मिन्नतिव्याप्तिः पदे पदे ।
अनगारैश्च दुर्वारा विशद्भिर्गोपुरादिषु ।। ३४ ।।
सर्वतः सर्वविषयं देशतस्त्रसगोचरम् ।
यतो सागारिणां न स्याज्जलादिपरिवर्जनम् ।। ३५ ।।
देशतःस्तेयसंत्यागलक्षणं गृहिणां व्रतम् ।
अदत्तं वस्तु नादेयं यस्मिन्नस्ति त्रसाश्रयः ।। ३६ ।।
रक्षार्थं तस्य कर्तव्या भावनाः पञ्च नित्यशः ।
सर्वतो मुनिनाथेन देशतः श्रावकैरपि ।। ३७ ।।

तत्सूत्रं यथा—शून्यागारविमोचितावास परोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसद्धर्माविसंवादाः पञ्च ।

शून्यागारेषु चावासा भूभृतां गह्वरादयः ।
तदिन्द्रादिविरोधेन न वास्तव्यमिहामुना ।। ३८ ।।
किन्तु प्राक् प्रार्थनामित्थं कृत्वा तत्रापि संविशेत् ।
प्रसीदात्रत्य भो देव ! पंचरात्रं वसाम्यहम् ।। ३९ ।।
निःस्वामित्वेन संत्यक्ताः गृहाः सन्त्युद्वसाह्वयाः ।
प्राग्वदत्रापि वसतिं न कुर्यात्कुर्याद्वा तथा ।। ४० ।।

स्वामित्वेन वसत्यादि परैः स्यादुपरुन्धितम् ।
परोपरोधाकरणमाहुः सूत्रविशारदाः ॥ ४१ ॥
तत्स्वामिनमनापृच्छ्य स्थातव्यं न गृहिव्रतैः ।
स्थातव्यं च तमापृच्छ्य दीयमानं तदाज्ञया ॥ ४२ ॥
भैक्ष्यशुद्ध्यविसंवादो भावनीयो व्रतार्थिना ।
सर्वतो मुनिनाथेन देशतो गृहमेधिना ॥ ४३ ॥
नादेयं केनचिद्दत्तमन्येनातत्स्वामिना ।
तत्स्वामिनश्च प्रच्छन्नवृत्त्या तत्स्याददत्तवत् ॥ ४४ ॥
आत्मधर्मः सधर्मी स्यादर्थाज्जैनो व्रतान्वितः ।
तेन कारापितं यावज्जिनचैत्यगृहादि यत् ॥ ४५ ॥
तत्रापि निवसेद्धीमान् क्षणं यावत्तदाज्ञया ।
तदाज्ञामन्तरेणेह न स्थातव्यमुपेक्षया ॥ ४६ ॥
भावनापञ्चकं यावदत्रोक्तं चांशमात्रतः ।
स्वर्णाद्यपि च नादेयमदत्तं वसनादि वा ॥ ४७ ॥
अत्रापि सन्त्यतीचाराः पञ्चेति सूत्रसम्मताः ।
त्याज्याःस्तेयपरित्यागव्रतसंशुद्धिहेतवे ॥ ४८ ॥

उक्तं च—“ स्तेनप्रयोग तदाहृतादान विरुद्धराज्यादिक्रम हीनाधिकमानोन्मान प्रतिरूपक व्यवहाराः ।

परस्य प्रेरणं लोभात्स्तेयं प्रति मनीषिणा ।
स्तेनप्रयोग इत्युक्तः स्तेयातीचारसंज्ञकः ॥ ४९ ॥
अप्रेरितेन केनापि दस्युना स्वयमाहृतम् ।
गृह्यते धनधान्यादि तदाहृतादानं स्मृतम् ॥ ५० ॥
नादेयं दीयमानं वा पुण्यदानेन चापि तत् ।
स्तेयत्यागव्रतस्यास्य स्वामिनात्महितैषिणा ॥ ५१ ॥
राज्ञाज्ञापितमात्मेत्थं युक्तं वाऽयुक्तमेव तत् ।
क्रियते न यदा स स्याद्विरुद्धराज्यातिक्रमः ॥ ५२ ॥

कर्तव्यो न कदाचित्स प्रकृतव्रतधारिणा ।
आस्ताममुत्र तेनार्तिरिहानर्थपरंपरा ॥ ५३ ॥
क्रेतुं मानाधिकं मानं विक्रेतुं न्यूनमात्रकम् ।
हीनाधिकमानोन्माननामातीचारसंज्ञकः ॥ ५४ ॥
सर्वारम्भेण त्याज्योऽयं गृहस्थेन व्रतार्थिना ।
इहैवाकीर्तिसन्तानःस्यादमुत्र च दुःखदः ॥ ५५ ॥
निक्षेपणं समर्थस्य महार्घे वञ्चनाशया ।
प्रतिरूपकनामा स्याद् व्यवहारो व्रतक्षतौ ॥ ५६ ॥
स्तेयत्यागव्रतारूढैर्नादेयः श्रावकोत्तमैः ।
अस्त्यतीचारसंज्ञोपि सर्वदोषाधिपो महान् ॥ ५७ ॥
उक्तातिचारनिर्मुक्तं तृतीयव्रतमुत्तमम् ।
अवश्यं प्रतिपाल्यं स्यात्परलोकसुखाप्तये ॥ ५८ ॥
चतुर्थं ब्रह्मचर्यं स्याद्व्रतं देवेन्द्रवन्दितम् ।
देशतः श्रावकैर्ग्राह्यं सर्वतो मुनिनायकैः ॥ ५९ ॥
देशतस्तद्व्रतं धाम्नि स्थितस्यास्य सरागिणः ।
उदिता धर्मपत्नी या सैवसेव्या नचेतरा ॥ ६० ॥
ब्रह्मव्रतस्य रक्षार्थं कर्तव्याः पञ्चभावनाः ।
तल्लक्षणं यथा सूत्रे प्रोक्तमत्रापि चाहृतिः ॥ ६१ ॥

तत्सूत्रं यथा—स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरण वृष्येष्टरस स्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ।

प्रसिद्धं विटचर्यादि दम्पत्योर्वा मिथो रतिः ।
अनुरागस्तद्वार्तायां योषिद्रागकथाश्रुतिः ॥ ६२ ॥

उक्तं च ।

रतिरूपा तु या चेष्टा दम्पत्योः सानुरागयोः ।
शृंगारः स द्विधा प्रोक्तः संयोगो विप्रलम्भकः ॥
स त्याज्योऽपरदम्पत्योः सम्बन्धी बन्धकारणम् ।
प्रीतिः शृङ्गारशास्त्रादौ नादेया ब्रह्मचारिभिः ॥ ६३ ॥

चक्षुर्गण्डाधरग्रीवास्तनोदरनितम्बकान् ।
पश्येत्तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणमत्यादरात् ॥ ६४ ॥
न कर्तव्यं तदङ्गानां भाषणं वा निरीक्षणम् ।
कायेन मनसा वाचा ब्रह्माणुव्रतधारिणा ॥ ६५ ॥
रतं मोहोदयात्पूर्वं सार्द्धमन्याङ्गनादिभिः ।
तत्स्मरणमतीचारं पूर्वरतानुस्मरणम् ॥ ६६ ॥
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य दोषोयं सर्वतो महान् ।
त्याज्यो ब्रह्मपयोजांशुमालिना ब्रह्मचारिणा ॥ ६७ ॥
वृषमन्नं यथा माषाःपयश्चेष्टरसः स्मृतः ।
वीर्यवृद्धिकरं चान्यत्त्याज्यमित्यादि ब्रह्मणे ॥ ६८ ॥
स्नेहाभ्यङ्गादिस्नानानि माल्यं स्रक् चन्दनानि च ।
कुर्यादत्यर्थमात्रं चेद् ब्रह्मातीचारदोषकृत् ॥ ६९ ॥
स्वशरीरसंस्कारारव्यो दोषोयं ब्रह्मचारिणः ।
सर्वतो मुनिना त्याज्यो देशतो गृहमेधिभिः ॥ ७० ॥
भावनाः पञ्चनिर्दिष्टाः सर्वतो मुनिगोचरा ।
तत्राशक्तिर्गृहस्थानां वर्जनीया स्वशक्तितः ॥ ७१ ॥
लक्ष्यन्तेऽत्राप्यतीचाराः ब्रह्मचर्यव्रतस्य ये ।
पञ्चैवेति यथा सूत्रे सूक्ताः प्रत्यक्षवादिभिः ॥ ७२ ॥

उक्तं च—परविवाहकरणेत्वरिका परिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ।

परविवाहकरणं दोषो ब्रह्मव्रतस्य यः ।
व्यक्तो लोकप्रसिद्धत्वात्सुगमे प्रयासो वृथा ॥ ७३ ॥
अयं भावः स्वसम्बन्धिपुत्रादींश्च विवाहयेत् ।
परवर्गविवाहांश्च कारयेन्नानुमोदयेत् ॥ ७४ ॥
इत्वरिका स्यात्पुंश्चली सा द्विधा प्राग्यथोदिता ।
काचित्परिगृहीता स्यादपरिगृहीता परा ॥ ७५ ॥

ताभ्यां सरागवागादिवपुस्पर्शोऽथवा रतम् ।
दोषोऽतीचारसंज्ञोऽपि ब्रह्मचर्यस्य हानये ॥ ७६ ॥
दोषश्चानङ्गक्रीडाख्यः स्वप्नादौ शुक्रविच्युतिः ।
विनापि कामिनीसङ्गात्क्रिया वा कुत्सितोदिता ॥ ७७ ॥
कामतीव्राभिनिवेशो दोषोतीचारसंज्ञकः ।
दुर्दान्तवेदनाक्रान्तस्मरसंस्कारपीडितः ॥ ७८ ॥
ननु चास्ति स दुर्वारो दुस्त्याज्या मानसी क्रिया ।
ब्रह्मव्रतगृहीतस्य सतोत्र वद का गतिः ॥ ७९ ॥
उच्यते गतिरस्यास्ति वृद्धैः सूत्रे प्रमाणिता ।
यथा कथंचिन्न त्याज्या नीता ब्रह्मव्रतक्रिया ॥ ८० ॥
उक्तं ब्रह्मव्रतं साङ्गमतिचारविवर्जितम् ।
पालनीयं सदाचारैः स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ॥ ८१ ॥
उपाधिपरिमाणस्य सद्विधिश्चाधुनोच्यते ।
सति यत्रोदितानां स्याद्व्रतानां स्थितिसन्ततिः ॥ ८२ ॥
मुनिभिः सर्वतस्त्याज्यं तृणमात्रपरिग्रहम् ।
तत्संख्यागृहिभिः कार्या त्रसहिंसादिहानये ॥ ८३ ॥
अवश्यं द्रविणादीनां परिमाणं च परिग्रहे ।
गृहस्थेनापि कर्तव्यं हिंसातृष्णोपशान्तये ॥ ८४ ॥
परिमाणे कृते तस्मादर्वाग्मूर्च्छा प्रवर्तते ।
अभावान्मूर्च्छायास्तूर्द्ध्वं मुनित्वमिव गीयते ॥ ८५ ॥
तस्मादात्मोचितादद्रव्याद् ह्रासनं तद्वरं स्मृतम् ।
अनात्मोचितसंकल्पाद् ह्रासनं तन्निरर्थकम् ॥ ८६ ॥
अनात्मोचितसङ्कल्पाद् ह्रासनं यन्मनीषया ।
कुर्युर्यद्वा न कुर्युर्वा तत्सर्वं व्योमचित्रवत् ॥ ८७ ॥
प्रत्यग्रजन्मनीहेदमन्त्यन्ताभावलक्षणम् ।
तत्त्यागोपि वरं कैश्चिदुच्यते सारवर्जितम् ॥ ८८ ॥

तत्रोत्सर्गो नृपर्यायस्थितिमात्रकृते धनम् ।
रक्षणीयं व्रतस्थैस्तैस्त्याज्यं शेषमशेषतः ॥ ८९ ॥
अपवादस्तूपात्तानां व्रतानां रक्षणं यथा ।
स्याद्वा न स्यात्तु तद्धानिः संख्यातव्यस्तथोपधिः ॥ ९० ॥
रक्षार्थं तद्व्रतस्यापि भावनाः पञ्च सम्मताः ।
भावनीयाश्च ता नित्यं यथा सूत्रेपि लक्षिताः ॥ ९१ ॥

तत्सूत्रं यथा—मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषय रागद्वेषवर्जनानि पञ्च ।

इन्द्रियाणि स्फुटं पञ्च पञ्च तद्विषयाः स्मृताः ।
यथास्वं तत्परित्यागभावनाः पञ्च नामतः ॥ ९२ ॥
पञ्चस्वेषु मनोज्ञेषु भावना रागवर्जनम् ।
अमनोज्ञेषु तेषूच्चैर्भावना द्वेषवर्जनम् ॥ ९३ ॥
अयमर्थो यदीष्टार्थसंयोगोऽस्ति शुभोदयात् ।
तदा रागो न कर्तव्यो हिरण्याद्यपकर्षता ॥ ९४ ॥
अथानिष्टार्थसंयोगो दुर्दैवाज्जायते नृणाम् ।
तदा द्वेषो न कर्तव्यो धनसंख्याव्रतेप्सिना ॥ ९५ ॥
इष्टानिष्टादिशब्दार्थः सुगमत्वान्न लक्षितः ।
रागद्वेषौ प्रसिद्धौ स्तः प्रयासः सुगमे वृथा ॥ ९६ ॥
अत्रातीचारसंज्ञाः स्युः दोषाः संख्याव्रतस्य च ।
उदिता सूत्रकारेण त्याज्या व्रतविशुद्धये ॥ ९७ ॥

उक्तं च—क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ।

क्षेत्रं स्याद्वसतिस्थानं धान्याधिष्ठानमेव वा ।
गवाद्यागारमात्रं वा स्वीकृतं यावदात्मना ॥ ९८ ॥
ततोऽतिरिक्ते लोभान्मूर्च्छावृत्तिरतिक्रमः ।
न कर्तव्यो व्रतस्थेन कुर्वतोपधितुच्छताम्[1] ॥ ९९ ॥

---
१ त्यागः ।

वास्तु वस्त्रादिसामान्यं तत्संख्यां क्रियतां बुधैः ।
अतीचारनिवृत्यर्थं कार्यो नातिक्रमस्ततः ॥ १०० ॥
हिरण्यध्वनिना प्रोक्तं वज्रमौक्तिकसत्फलम् ।
तेषां प्रमाणमात्रेण क्षणान्मूर्च्छा प्रलीयते ॥ १०१ ॥
अत्र सुवर्णशब्देन ताम्रादिरजतादयः ।
संख्या तेषां च कर्तव्या श्रेयान्नातिक्रमस्ततः ॥ १०२ ॥
धनशब्दो गवाद्यर्थः स्याच्चतुष्पदवाचकः ।
विधेयं तत्परिमाणं ततो नातिक्रमो वरः ॥ १०३ ॥
धान्यशब्देन मुद्गादि यावदन्नकदम्बकम् ।
व्रतं तत्परिमाणेन व्रतहानिरतिक्रमात् ॥ १०४ ॥
दासकर्मरता दासी क्रीता वा स्वीकृता सती ।
तत्संख्या व्रतशुद्ध्यर्थं कर्तव्या सानतिक्रमात् ॥ १०५ ॥
यथा दासी तथा दासः संख्या तस्यापि श्रेयसी ।
श्रेयानतिक्रमो नैव हिंसातृष्णोपबृंहणात् ॥ १०६ ॥
कुप्यशब्दो घृताद्यर्थस्तद्भाण्डं भाजनानि वा ।
तेषामप्यल्पीकरणं श्रेयसे स्याद्व्रतार्थिनाम् ॥ १०७ ॥
उक्ताः संख्याव्रतस्यास्य दोषाः संक्षेपतो मया ।
परिहार्याः प्रयत्नेन संख्याणुव्रतधारिणा ॥ १०८ ॥
प्रोक्तं सूत्रानुसारेण यथाणुव्रतपञ्चकम् ।
गुणव्रतत्रयं वक्तुमुत्सहेदधुना कविः ॥ १०९ ॥
दिग्देशानर्थदण्डानां विरतिः स्याद्गुणव्रतम् ।
एकत्वाद्विरतेश्चापि त्रेधा विषयभेदतः ॥ ११० ॥
दिग्विरतिर्यथानाम दिक्षु प्राच्यादिकासु च ।
गमनं प्रतिजानीते कृत्वासीमानमार्हतः ॥ १११ ॥
सन्त्यत्र विषयाः सीम्नः वननीवृन्नगापगाः ।
अनु तानवधिं कृत्वा गच्छेदर्वाग्न तद्बहिः ॥ ११२ ॥

पूर्वस्यां दिशि गच्छामि यावद्गङ्गाम्बु केवलम् ।
तद्बहिर्वपुषानेन न गच्छामि सचेतनः ॥ ११३ ॥
एवं कृतप्रतिज्ञस्य संवरः पापकर्मणः ।
तद्बहिः सर्वहिंसाया अभावात्तन्मुनेरिव ॥ ११४ ॥
परिपाट्यानयोदीच्यां पश्चिमायां दिशि स्मृताः ।
मर्यादोर्ध्वमधश्चापि दक्षिणस्यां विदिक्षु च ॥ ११५ ॥
तत्करणे महच्छ्रेयो हिंसा तृष्णाद्यत्ययात् ।
करणीयं ततोऽवश्यं श्रावकैर्व्रतधारिभिः ॥ ११६ ॥
सन्ति तत्राप्यतीचाराः पञ्चेति सूत्रसाधिताः ।
सावधानतया त्याज्यास्तेपि तद्व्रतसिद्धये ॥ ११७ ॥

तत्सूत्रं यथा–ऊर्द्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम क्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ।

उच्चैर्धात्रीधरारोहे भवेदूर्ध्वव्यतिक्रमः ।
अगाधभूधरावेशाद्विख्यातोऽधोव्यातिक्रमः ॥ ११८ ॥
क्वचिद्दिक्कोणदेशादौ क्षेत्रे दीर्घाध्ववर्तिनि ।
कारणाद्गमनं लोभाद्भवेत्तिर्यग्व्यतिक्रमः ॥ ११९ ॥
यथा सत्यमितः क्रोशः शतं यावद्गतिर्मम ।
क्रोशा मालवदेशीया क्षेत्रवृद्धिश्च दूषणम् ॥ १२० ॥
स्मृतं स्मृत्यन्तराधानं विस्मृतं च पुनः स्मृतम् ।
दूषणं दिग्विरतेः स्यादनिर्णीतमियत्तया ॥ १२१ ॥
प्रोचिता देशविरतिर्यावत्कालात्मवर्तिनी ।
तत्पर्यायाः क्षणं यामदिनमासर्तुवत्सराः ॥ १२२ ॥
तद्विषयो गतित्यागस्तथा चाशनवर्जनम् ।
मैथुनस्य परित्यागो यद्वा मौनादिधारणम् ॥ १२३ ॥
यथाद्य यदि गच्छामि प्राच्यामेवेति केवलम् ।
कारणान्नापि गच्छामि शेषदिक्त्रितयेवशात् ॥ १२४ ॥

यथा वा यावदद्याह्नि भूयान्मेऽनशनं महत् ।
यद्वा तत्रापि रात्रौ च ब्रह्मचर्यं ममास्तु तत् ॥ १२५ ॥
यथा वा वर्षासमये चातुर्मासेऽथ योगिवत् ।
इतः स्थानान्न गच्छामि क्वापि देशान्तरे जवात् ॥ १२६ ॥
परिपाट्यानया योज्या वृत्तिः स्याद्बहुविस्तरा ।
कर्तव्याच यथाशक्ति मातेव हितकारिणी ॥ १२७ ॥
पञ्चातिचारसंज्ञाः स्युर्दोषाः सूत्रोदिता बुधैः ।
देशविरतिरूपस्य व्रतस्यापि मलप्रदाः ॥ १२८ ॥

तत्सूत्रं यथा—आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ।

आत्म सङ्कल्पिताद्देशाद्बहिःस्थितस्य वस्तुनः ।
आनयेतीङ्गितैः किञ्चिद् ज्ञापनानयनं मतम् ॥ १२९ ॥
उक्तं केनाप्यनुक्तेन स्वयं तच्चानयाम्यहम् ।
एवं कुर्वीति नियोगो प्रेष्यप्रयोग उच्यते ॥ १३० ॥
शब्दानुपातनामापि दोषोतीचारसंज्ञकः ।
संदेशकारणं दूरे तद्व्यापारकरान् प्रति ॥ १३१ ॥
दोषो रूपानुपाताख्यो व्रतस्यामुष्य विद्यते ।
स्वाङ्गाङ्गदर्शनं यद्वा समस्या चक्षुरादिना ॥ १३२ ॥
अस्ति पुद्गलनिक्षेपनामा दोषोत्र संयमे ।
इतो वा प्रेषणं तत्र पत्रिकाहेमवाससाम् ॥ १३३ ॥
उक्तातीचारनिर्मुक्तं स्याद्देशविरतिर्व्रतम् ।
कर्तव्यं व्रतिनावश्यं हिंसातृष्णादिहानये ॥ १३४ ॥
व्रतं चानर्थदण्डस्य विरतिर्गृहमेधिनाम् ।
द्वादशव्रतवृक्षाणामेतन्मूलमिवाद्वयम् ॥ १३५ ॥
एकस्यानर्थदण्डस्य परित्यागो न देहिनाम् ।
व्रतित्वं स्यादनायासान्नान्यथायासकोटिभिः ॥ १३६ ॥
स्वार्थं चान्यस्य संन्यासं विना कुर्यान्न कर्म तत् ।
स्वार्थश्चावश्यमात्रात्मा स्वार्थः सर्वो न सर्वतः ॥ १३७ ॥

यथानाम विनोदार्थं जलादि वनक्रीडनम् ।
कायेन मनसा वाचा तद्भेदा बहवः स्मृताः ॥ १३८ ॥
कृतकारितानुमननैस्त्रिकाल विषयं मनोवचःकायैः ।
परिहृत्य कर्मसकलं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बेत् ॥ १३९ ॥
दोषाः सूत्रोदिताः पञ्च सन्त्यतीचारसंज्ञकाः ।
अनर्थदण्डत्यागस्य व्रतस्यास्यापि दूषिकाः ॥ १४० ॥

तत्सूत्रं यथा—कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ।

अस्ति कन्दर्पनामापि दोषः प्रोक्तव्रतस्य यः ।
रागोद्रेकात्प्रहासाद्धिमिश्रोवाग्योग इत्यपि ॥ १४१ ॥
दोषः कौत्कुच्यसंज्ञोस्ति दुष्टकायक्रियादियुक् ।
पराङ्गस्पर्शनं स्वाङ्गैरर्थादन्याङ्गनादिषु ॥ १४२ ॥
मौखर्यदूषणं नाम रतप्रायं वचःशतम् ।
अतीव गर्हितं धाष्टर्याद्यद्वात्यर्थं प्रजल्पनम् ॥ १४३ ॥
असमीक्ष्याधिकरणमनल्पीकरणं हि यत् ।
अर्थात्स्वार्थमसमीक्ष्य वस्तुनोऽनवधानतः ॥ १४४ ॥
यथाहारकृते यावज्जलेनास्ति प्रयोजनम् ।
नेतव्यं तावदेवात्र दूषणं चान्यथोदितम् ॥ १४५ ॥
भुज्यते सकृदेवात्र स्यादुपभोगसंज्ञकः ।
यथा स्रक्चन्दनं माल्यमन्नपानौषधादि वा ॥ १४६ ॥
परिभोगः समाख्यातो भुज्यते यत्पुनः पुनः ।
यथा योषिदलंकारवस्त्रागारगजादिकम् ॥ १४७ ॥
आनर्थक्यं तयोरेव स्यादसंभवविनोदयोः ।
अनात्मोचितसंख्यायाः करणादपि दूषणम् ॥ १४८ ॥
यथा दीनश्च दुर्भाग्यो वस्तुसंख्यां चिकीर्षति ।
गृह्णाम्यशाश्वतं यावन्न गृह्णामि ततोधिकम् ॥ १४९ ॥

निर्दिष्टानर्थदण्डस्य विरतिर्नाम्ना गुणव्रतम् ।
अतीचारविनिर्मुक्तं नूनं निःश्रेयसे भवेत् ॥ १५० ॥

शिक्षाव्रतानि चत्वारि सन्ति स्याद्गृहमेधिनाम् ।
इतस्तान्यपि वक्ष्यामि पूर्वसूत्रानतिक्रमात् ॥ १५१ ॥

तत्सूत्रं यथा—सामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ।

अर्थात्सामायिकः प्रोक्तः साक्षात्साम्यावलम्बनम् ।
तदर्थं व्यवहारत्वात्पाठः कालासनादिमान् ॥ १५२ ॥

तत्सूत्रं यथा—

समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना ।
आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकव्रतम् ॥ १ ॥

तदर्थात्प्रातरुत्थाय कुर्यादात्मादिचिन्तनम् ।
एकोहं शुद्ध चिद्रूपो नाहं पौद्गलिकं वपुः ॥ १५३ ॥

चिन्तनीयं ततश्चित्ते सूक्ष्मं षड्द्रव्यलक्षणम् ।
ततः संसारिणो मुक्त्वा जीवाश्चिन्त्या द्विधार्थतः ॥ १५४ ॥

तत्र संसारिणो जीवाश्चतुर्गति निवासिनः ।
कर्मनोकर्मयुक्तत्वाद् यायिनोऽतीव दुःखिताः ॥ १५५ ॥

पूर्वकर्मोदयाद्भावस्तेषां रागादिसंयुतः ।
जायतेऽशुद्धसंज्ञो यस्तस्माद्बन्धोस्ति कर्मणाम् ॥ १५६ ॥

एवं पूर्वापरीभूतो भावश्चान्योन्यहेतुकः ।
शक्यते न पृथक् कर्तुं यावत्संसारसंज्ञकः ॥ १५७ ॥

एवं वाऽनादिसन्तानाद्भ्रमतिस्म चतुर्गतौ ।
जन्ममृत्युजरातङ्कदुःखाक्रान्तः स प्राणभृत् ॥ १५८ ॥

तत्र कश्चन भव्यात्मा काललब्धिवशादिह ।
कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा संसाराद्धि प्रमुच्यते ॥ १५९ ॥

अस्ति सद्दर्शनज्ञान चारित्राण्यत्र कारणम् ।

हेतुस्तेषां समुत्पत्तौ काललब्धिः परं स्वतः ॥ १६० ॥
इत्यादि जगत्सर्वं स्वं चिन्तयेत्तन्मुहुर्मुहुः ।
नूनं संवेगवैराग्यवर्द्धनाय महामतिः ॥ १६१ ॥
उक्तं च—जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ।
चिन्तनानन्तरं चेति चिन्तयेदात्मनो गतिम् ।
कोहं कुतः समायातः क्व यास्यामि जवादितः ॥ १६२ ॥
हेयं किं किमुपादेयं मम शुद्धचिदात्मनः ।
कर्तव्यं किं मया त्याज्यमधुना जीवनावधि ॥ १६३ ॥
इति चिन्तयतस्तस्य संवेगो जायते गुणः ।
संसारभवभोगेभ्यो वैराग्यं चोपबृंहति ॥ १६४ ॥
ततः साधुसमाधिश्च सामायिकव्रतान्वितः ।
ततः सामायिकीं क्रियां कुर्याद्वा शल्यवर्जितः ॥ १६५ ॥
तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं पठेत्पद्यादिलक्षणम् ।
सिद्धानामथ साधूनां कुर्यात्सोपि गुणस्तुतिम् ॥ १६६ ॥
ततोर्हद्भारतीं स्तुत्वा जगच्छान्तिमधीय च ।
क्षणं ध्यानस्थितो भूत्वा चिन्तयेच्छुद्धचिन्मयम् ॥ १६७ ॥
ततः सम्पूर्णतां नीत्वा ध्यानं कालानतिक्रमात् ।
संस्तुतानां यथाशक्ति तत्पूजां कर्तुमर्हति ॥ १६८ ॥
स्नानं कुर्यात्प्रयत्नेन संशुद्धैः प्रासुकोदकैः ।
गृह्णीयाद्धौतवस्त्राणि दृष्टिपूतानि प्रायशः ॥ १६९ ॥
ततः शनैः शनैर्गत्वा स्वसद्मस्थजिनालये ।
द्रव्याण्यष्टौ जलादीनि सम्यगादाय भाजने ॥ १७० ॥
तत्रस्थान् जिनविम्बांश्च सिद्धयन्त्रान् समर्चयेत् ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं स्थाप्य समर्चयेत् ॥ १७१ ॥
शेषानपि यथाशक्ति गुणानप्यर्चयेद्व्रती ।
अत्र संक्षेपमात्रत्वादुक्तमुल्लिखतो मया ॥ १७२ ॥

अस्त्यत्र पञ्चधा पूजा मुख्यमाह्वानमात्रिका ।
प्रतिष्ठापनसंज्ञाथ सन्निधीकरणं तथा ॥ १७३ ॥
ततः पूजनमत्रास्ति ततो नाम विसर्जनम् ।
पञ्चधेयं समाख्याता पञ्चकल्याणदायिनी ॥ १७४ ॥
तद्विधिश्चात्र निर्दिष्टुमर्हन्नप्युपलक्षितः ।
स्मृतेः संक्षेपसंकेताद्विधेश्चातीव विस्तरात् ॥ १७५ ॥
एवमित्याद्यवश्यंस्यात्कर्तव्यं व्रतधारिभिः ।
अस्ति चेदात्मसामर्थ्यं कुर्याच्चाप्यपरं विधिम् ॥ १७६ ॥
अर्चयेच्चैत्यवेश्मस्थानर्हद्बिम्बादिकानपि ।
सूर्युपाध्यायसाधूंश्च पूजयेद्भक्तितो व्रती ॥ १७७ ॥
ततो मुनिमुखोद्गीर्णं प्रोक्तं वा सद्मसूरिभिः ।
धर्मस्य श्रवणं कुर्यादादराद् ज्ञानचक्षुषे ॥ १७८ ॥
गृहकार्यं ततः कुर्यादात्मनिन्दादिमानयम् ।
ततो मध्याह्निके प्राप्ते भूयः कुर्यादमुं विधिम् ॥ १७९ ॥
अतिथिसंविभागस्य भावनां भावयेदपि ।
मध्याह्नादीषदर्वाग्वै नातः कालाद्यतिक्रमे ॥ १८० ॥
भोजयित्वा स्वयं यावत्क्षणं शेते सुखाशया ।
धारयेद्धर्मश्रवणं पूर्वाह्णे यच्छ्रुतं स्मृतेः ॥ १८१ ॥
ऊहापोहोपि कर्तव्यः सार्द्धं चापि सधार्मिभिः ।
अस्ति चेद् ज्ञानसामर्थ्यं कार्यं शास्त्रावलोकनम् ॥ १८२ ॥
गृहकार्यं ततः कुर्याद्भूयः संध्यावधेरिह ।
ततः सायंतने प्राप्ते कुर्यात्सामायिकीं क्रियाम् ॥ १८३ ॥
किञ्चापराह्णके काले जिनबिम्बान् प्रागर्चयेत् ।
ततः सामायिकं कुर्यादुक्तेन विधिना व्रती ॥ १८४ ॥
ततश्च शयनं कुर्याद्यथानिद्रं यथोचितम् ।
निशीथे पुनरुत्थाय कुर्यात्सामायिकीं क्रियाम् ॥ १८५ ॥

तत्रार्द्धरात्रके पूजां न कुर्यादर्हतामपि ।
हिंसाहेतोरवश्यं स्याद्रात्रौ पूजाविवर्जनम् ॥ १८६ ॥
एवं प्रवर्तमानश्च सागारो व्रतवानिह ।
स्वर्गादिसम्पदो भुक्त्वा निर्वाणपदभाग्भवेत् ॥ १८७ ॥
सामायिकव्रतस्यापि पञ्चातीचारसंज्ञकाः ।
दोषाः सन्ति प्रसिद्धास्ते त्याज्याः सूत्रोदिता यथा ॥ १८८ ॥

तत्सूत्रं यथा–योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।

सामायिकादितोन्यत्र मनोवृत्तिर्यदा भवेत् ।
मनोदुष्प्रणिधानाख्यो दोषोतीचारसंज्ञकः ॥ १८९ ॥
वाग्योगोपि ततोन्यत्र हुङ्कारादिप्रवर्तते ।
वचोदुष्प्रणिधानाख्यो दोषोतीचारसंज्ञकः ॥ १९० ॥
काययोगस्ततोन्यत्र हस्तसंज्ञादिदर्शने ।
वर्तते तदतीचारः कायदुष्प्रणिधानकः ॥ १९१ ॥
यदाऽऽलस्यतया मोहात्कारणाद्वा प्रमादतः ।
अनुत्साहतया कुर्यात्तदाऽनादरदूषणम् ॥ १९२ ॥
अस्ति स्मृत्यनुपस्थानं दूषणं प्रकृतस्य यत् ।
न्यूनं वर्णैः पदैर्वाक्यैः पठ्यते यत्प्रमादतः ॥ १९३ ॥
ख्यातं सामायिकं नाम व्रतं चाणुव्रतार्थिनाम् ।
अतीचारविनिर्मुक्तं भवेत्संसारविच्छिदे ॥ १९४ ॥
स्यात्प्रोषधोपवासाख्यं व्रतं च परमौषधम् ।
जन्ममृत्युजरातङ्कविध्वंसनविचक्षणम् ॥ १९५ ॥
चतुर्द्धाशनसंन्यासो यावद्यामाश्च षोडश ।
स्थितिर्निरवद्यस्थाने व्रतं प्रोषधसंज्ञकम् ॥ १९६ ॥
कर्तव्यं तदवश्यं स्यात्पर्वण्यां प्रोषधव्रतम् ।
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां यथाशक्त्यपि चान्यदा ॥१९७॥
धारणाह्नि त्रयोदश्यां मध्याह्ने कृतभोजनः ।

तिष्ठेत्स्थानं समासाद्य नीरागं निरवद्यकम् ॥ १९८ ॥
तत्रैव निवसेद् रात्रौ जागरूको यथाबलम् ।
प्रातरादिदिनं कृत्स्नं धर्मध्यानैर्नयेद्व्रती ॥ १९९ ॥
जलपानं निषिद्धं स्यान्मुनिवत्तत्र प्रोषधे ।
न निषिद्धाऽनिषिद्धा स्यादर्हत्पूजा जलादिभिः ॥ २०० ॥
यदा सा क्रियते पूजा न दोषोस्ति तदापि वै ।
न क्रियते सा तदाप्यत्र दोषो नास्तीह कश्चन ॥ २०१ ॥
एवमित्यादि तत्रैव नीत्वा रात्रिं स धर्मधीः ।
कृतक्रियोऽशनं कुर्यान्मध्याह्ने पारणादिने ॥ २०२ ॥
ब्रह्मचर्यं च कर्तव्यं धारणादि दिनत्रयम् ।
परयोषिन्निषिद्धा प्रागिदं त्वात्मकलत्रके ॥ २०३ ॥
स्युः प्रोषधोपवासस्य दोषाः पञ्चोदिताः स्मृतौ ।
निरस्यास्ते व्रतस्थैस्तैः सागारैरपि यत्नतः ॥ २०४ ॥

तत्सूत्रं यथा—अप्रत्यवेक्षिताप्रमोर्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।

जीवाःसन्ति नवा सन्ति कर्तव्यं प्रत्यवेक्षणम् ।
चक्षुर्व्यापारमात्रं स्यात्सूत्रात्तल्लक्ष्णं यथा ॥ २०५ ॥
प्रमार्जनं च मृदुभिः यथोपकरणैः कृतम् ।
उत्सर्गादानसंस्तरविषयं चोपबृंहणम् ॥ २०६ ॥
अप्रत्यवेक्षितं तत्र यथा स्यादप्रमार्जितम् ।
मूत्राद्युत्सर्ग एवास्ति दोषः प्रोषधसंयमे ॥ २०७ ॥
यथोत्सर्गस्तथादानं संस्तरोपक्रमस्तथा ।
तन्नामानो व्यतीचारा दोषाः प्रोक्ता व्रतस्य ते ॥ २०८ ॥
ज्ञेयः पूर्वोक्तसंदर्भादनुत्साहोप्यनादरः ।
प्रोषधो पोषितस्यास्य दोषोतीचारसंज्ञकः ॥ २०९ ॥
स्यात्स्मृत्यनुपस्थानं दूषणं प्रोषधस्य तत् ।

अनैकाग्र्यं तदेव स्याल्लक्षणादपि लक्षणम् ॥ २१० ॥
प्रोषधोपवासस्यात्र लक्षणं कथितं मया ।
इतः संख्योपभोगस्य परिभोगस्य चोच्यते ॥ २११ ॥
निर्दिष्टं लक्षणं पूर्वं परिभोगोपभोगयोः ।
तयोः संख्या प्रकर्तव्या सागारैर्व्रतधारिभिः ॥ २१२ ॥
सन्ति तत्राप्यतीचाराः पञ्च सूत्रोदिता बुधैः ।
परिहार्याः प्रयत्नेन श्रावकैर्धर्मवेदिभिः ॥ २१३ ॥

तत्सूत्रं यथा—सचित्तसबन्धसन्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ।

चिकीर्षन्नपि तत्संख्यां सचित्तं यो न मुञ्चति ।
दोषः सचित्तसंज्ञोऽस्य भवेत्संख्याव्रतस्य सः ॥ २१४ ॥
तथाविधोऽपि यः कश्चिच्चेतनाधिष्ठितं च यत् ।
वस्तुसंख्यामकुर्वाणो भवेत्सम्बन्धदूषणम् ॥ २१५ ॥
मिश्रितं च सचित्तेन वस्तुजातं च वस्तुना ।
स्वीकुर्वाणोऽप्यतीचारं सन्मिश्राख्यं च न त्यजेत् ॥ २१६ ॥
आहारं स्निग्धग्राहिश्च ? दुर्जरं जठराग्निना ।
असंख्यातवतस्तस्य दोषो दुष्पक्वसंज्ञकः ॥ २१७ ॥
उक्तातिचारनिर्मुक्तं परिभोगोपभोगयोः ।
संख्याव्रतं गृहस्थानां श्रेयसे भवति ध्रुवम् ॥ २१८ ॥
अतिथिसंविभागाख्यं व्रतमस्ति व्रतार्थिनाम् ।
सर्वव्रतशिरोरत्नमिहामुत्र सुखप्रदम ॥ २१९ ॥
ईषन्न्यूने च मध्याह्ने कुर्याद् द्वारावलोकनम् ।
दातुकामः सुपात्राय दानीयाय महात्मने ॥ २२० ॥
तत्पात्रं त्रिविधं ज्ञेयं तत्राप्युत्कृष्टमादिमम् ।
द्वितीयं मध्यमं ज्ञेयं तृतीयं तु जघन्यकम् ॥ २२१ ॥

उक्तं च ।

उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं
मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम् ।

निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं
युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि ।

एतेष्वन्यतमं प्राप्य दानं देयं यथाविधि ।
प्रासुकं शुद्धमाहारं विनयेन समन्वितम् ॥ २२३ ॥
पात्रालाभे यथाचित्ते पश्चात्तापपरो भवेत् ।
अधमे विफलं जन्म भूयोभूयश्च चिन्तयेत् ॥ २२४ ॥
कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथायथम् ।
केवलं तत्कृपादानं देयं पात्रधिया न हि ॥ २२५ ॥
अस्ति सूत्रोदितं शुद्धं तत्रातीचारपञ्चकम् ।
अतिथिसंविभागाख्यव्रतरक्षार्थं परित्यजेत् ॥ २२६ ॥

तत्सूत्रं यथा—सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ।

सचित्ते पद्मपत्रादौ निक्षेपोऽन्नादिवस्तुनः ।
दोषः सचित्तनिक्षेपो भवेदन्वर्थसंज्ञकः ॥ २२७ ॥
अपिधानमावरणं सचित्तेन कृतं यदि ।
स्यात्सचित्तापिधानाख्यं दूषणं व्रतधारिणः ॥ २२८ ॥
आस्माकीनं सुसिद्धान्नं त्वं प्रयच्छेति योजनम् ।
दोषः परोपदेशस्य करणाख्यो व्रतात्मनः ॥ २२९ ॥
प्रयच्छन्नच्छमन्नादि गर्वमुद्वहते यदि ।
दूषणं लभते सोपि महामात्सर्यसंज्ञकम् ॥ २३० ॥
ईषन्न्यूनाच्च मध्यान्हाद्दानकालादधोथवा ।
ऊर्द्ध्वं तद्भावनाहेतोर्दोषः कालव्यतिक्रमः ॥ २३१ ॥
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तं पात्रेभ्यो दानमुत्तमम् ।
अतिथिसंविभागाख्यव्रतं तस्य सुखाप्तये ॥ २३२ ॥
यथात्मज्ञानमाख्यातं संख्याव्रतचतुष्टयम् ।
अस्ति सल्लेखना कार्या तद्व्रतो मारणान्तकी ॥ २३३ ॥
सोस्ति सल्लेखनाकालो जीर्णे वयसि चाथवा ।

दैवाद्धोरोपसर्गेऽपि रोगेऽसाध्यतरेऽपि च ॥ २३४ ॥
क्रमेणाराधनाशास्त्रप्रोक्तेन विधिना व्रती ।
वपुषश्च कषायाणां जयं कृत्वा तनुं त्यजेत् ॥ २३५ ॥
धन्यास्ते वीरकर्माणो ज्ञानिनस्ते व्रतावहाः ।
येषां सल्लेखनामृत्युः निष्प्रत्यूहतया भवेत् ॥ २३६ ॥
दोषाः सूत्रोदिताः पञ्च सन्त्यतीचारसंज्ञकाः ।
अन्त्यसल्लेखनायास्ते संत्याज्याः पारलौकिकैः ॥ २३७ ॥

तत्सूत्रं यथा—जीवितमरणाशंसा मित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ।

आशंसा जीविते मोहाद् यथेच्छेदपि जीवितम् ।
यदि जीव्ये वरं तावद्दोषोऽयं यत्समस्यते ॥ २३८ ॥
आशंसा मरणे चापि यथेच्छेन्मरणं द्रुतम् ।
वरं मे मरणं तूर्णं मुक्तः स्यां दुःखसंकटात् ॥ २३९ ॥
दोषो मित्रानुरागाख्यो यन्नेच्छेन्मरणं क्वचित् ।
पुरस्तान्मित्रतो मृत्युर्वरं पश्चान्न मे वरम् ॥ २४० ॥
दोषः सुखानुबन्धाख्यो यथात्रास्मीह दुःखवान् ।
मृत्वापि व्रतमाहात्म्याद् भविष्येऽहं सुखी क्वचित् ॥ २४१ ॥
दोषो निदानबन्धाख्यो यथेच्छेन्मरणं कुधीः ।
भवेयं व्रतमाहात्म्यादस्य घाताय तत्परः ॥ २४२ ॥
यदि वा मरणं चेच्छेन्मोहोद्रेकात्स मूढधीः ।
भवेयं चोपकाराय मित्रस्यास्य व्रतादितः ॥ २४३ ॥
यदिवा मरणं चेच्छेदज्ञानाद्वा सुखाशया ।
भूयान्मे व्रतमाहात्म्यात्स्वर्गश्रीरद्विवादिनी ॥ २४४ ॥
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तमन्त्यसल्लेखनाव्रतम् ।
स्वर्गापवर्गसौख्यानां सुधापानाय जायते ॥ २४५ ॥

उक्ता सल्लेखनोपेता द्वादशव्रतभावनाः ।
एताभिर्व्रतप्रतिमा पूर्णतां याति सुस्थिता ॥ २४६ ॥

इति श्रीस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारद विद्वन्मणिराजमल्ल विरचितायां श्रावकाचारापरनाम लाटीसंहितायां साधुश्री दूदात्मज फामन मनःसरोजारविन्दविकाशनैक-मार्तण्डमण्डलायमानायां मृषात्यागादिलक्ष-णाणुव्रतचतुष्क गुणव्रतत्रिक शिक्षाव्रत चतुष्टय प्रतिमा प्रतिपादकः षष्ठः सर्गः ।

अथ सप्तमः सर्गः ।

द्वादशव्रतरूपं यद् व्रतं सद्गृहमेधिनाम् ।
साधुदूदाङ्गजोद्धारभूयाद्वो नामफामनः ॥ १ ॥

इत्याशीर्वादः ।

द्वादशव्रतशुद्धस्य विशुद्धेश्चातिशायिनः ।
युक्तमुत्कृष्टाचरणमिच्छतस्तत्पदं मुदे ॥ १ ॥
स्यात्सामायिकप्रतिमा नाम्ना चाप्यस्तिसंख्यया ।
तृतीया व्रतरूपा स्यात्कर्तव्या वेश्मशालिभिः ॥ २ ॥
व्रतानां द्वादशं चात्र प्रतिपाल्यं यथोदितम् ।
विशेषादपि कर्तव्यं सम्यक् सामायिक व्रतम् ॥ ३ ॥
ननु व्रतप्रतिमायामेतत्सामायिकव्रतम् ।
तदेवात्र *तृतीयायां प्रतिमायां तु किं पुनः ॥ ४ ॥*
सत्यं किन्तु विशेषोस्ति प्रसिद्धः परमागमे ।
सातिचारं तु तत्र स्यादत्रातीचारविवर्जितम् ॥ ५ ॥
किञ्च तत्र त्रिकालस्य नियमो नास्ति देहिनाम् ।
अत्र त्रिकालनियमो मुनेर्मूलगुणादिवत् ॥ ६ ॥

तत्र हेतुवशात्क्वापि कुर्यात्कुर्यान्नवा क्वचित् ।
सातिचारव्रतत्वाद्वा तथापि न व्रतक्षतिः ॥ ७ ॥
अत्रावश्यं त्रिकालेपि कार्यं सामायिकं जगत् ।
अन्यथा व्रतहानिः स्यादतीचारस्य का कथा ॥ ८ ॥
अन्यत्राप्येवमित्यादि यावदेकादशस्थितिः ।
व्रतान्येव विशिष्यन्ते नार्थादर्थान्तरं क्वचित् ॥ ९ ॥
शोभतेऽतीव संस्कारात् साक्षादाकरजो मणिः ।
संस्कृतानि व्रतान्येव निर्जराहेतवस्तथा ॥ १० ॥
स्यात्प्रोषधोपवासाख्या चतुर्थी प्रतिमा शुभा ।
कर्तव्या निर्जराहेतुः संवरस्यापि कारणम् ॥ ११ ॥
अस्त्यत्रापि समाधानं वेदितव्यं तदुक्तवत् ।
सातिचारं च तत्र स्यादत्रातीचारवर्जितम् ॥ १२ ॥
द्वादशव्रतमध्येपि विद्यते प्रोषधं व्रतम् ।
तदेवात्र समाख्यातं विशेषस्तु विवक्षितः ॥ १३ ॥
अवश्यमपि कर्तव्यं चतुर्थप्रतिमाव्रतम् ।
कर्मकाननकोटीनामस्ति दावानलोपमम् ॥ १४ ॥
पञ्चमी प्रतिमा चास्ति व्रतं सागारिणामिह ।
तत्सचित्तपरित्यागलक्षणं भक्ष्यगोचरम् ॥ १५ ॥
इतःपूर्वं कदाचिद्वै सचित्तं वस्तु भक्षयेत् ।
इतः परं स नाश्नुयात्सचित्तं तज्जलाद्यपि ॥ १६ ॥
भक्षणेऽत्र सचित्तस्य नियमो न तु स्पर्शने ।
तत्स्वहस्तादिना कृत्वा प्रासुकं चात्र भोजयेत् ॥ १७ ॥
रात्रिभक्तपरित्यागलक्षणा प्रतिमास्ति सा ।
विख्याता संख्यया षष्ठी सद्मस्थश्रावकोचिता ॥ १८ ॥
इतःपूर्वं कदाचिद्वा पयःपानादि स्यान्निशि ।
इतः परं परित्यागः सर्वथा पयसोपि तत् ॥ १९ ॥

यद्वा विद्यते नात्र गन्धमाल्यादिलेपनम् ।
नापि रोगोपशान्त्यर्थं तैलाभ्यङ्गादि कर्मतत् ॥ २० ॥
किञ्च रात्रौ यथा भुक्तं वर्जनीयं हि सर्वदा ।
दिवा योषिद्व्रतं चापि षष्ठस्थानं परित्यजेत् ॥ २१ ॥
अस्ति तस्यापि जन्मार्द्धं ब्रह्मचर्याधिवासितम् ।
तदर्द्धंसर्वसन्यासस्सनाथं फलवन्महत् ॥ २२ ॥
नहि कालकलैकापि काचित्तस्यास्ति निष्फला ।
मन्ये साधुः स एवास्ति कृती सोपीह बुद्धिमान् ॥ २३ ॥
सप्तमी प्रतिमा चास्ति ब्रह्मचर्याह्वया पुनः ।
यत्रात्मयोषितश्चापि त्यागो निःशल्यचेतसः ॥ २४ ॥
कायेन मनसा वाचा त्रिकालं वनितारतम् ।
कृतानुमननं चापि कारितं तत्र वर्जयेत् ॥ २५ ॥
अस्ति हेतुवशादेष गृहस्थो मुनिरर्थतः ।
ब्रह्मचर्यव्रतं यस्माद् दुर्धरं व्रतसन्ततौ ॥ २६ ॥
हेतुस्तत्रास्ति विख्यातः प्रत्याख्यानावृतेर्यथा ।
विपाकात्कर्मणः सोपि नेतुं नार्हति तत्पदम् ॥ २७ ॥
उदयात्कर्मणो नाग्न्यं कर्तुनालमयं जनः ।
क्षुत्पिपासादि दुःखं च सोढुं न क्षमते यतः ॥ २८ ॥
ततोऽशक्यः गृहत्यागः सन्नप्येवात्र तिष्ठते ।
वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढः स शुद्धधीः ॥ २९ ॥
इतः प्रभृति सर्वेपि यावदेकादशस्थितिः ।
इयद्व्रतावृताश्चापि विज्ञेया मुनिसन्निभाः ॥ ३० ॥
अष्टमी प्रतिमा साद्य प्रोवाच वदतां वरः ।
सर्वतो देशतश्चापि यत्रारम्भस्य वर्जनम् ॥ ३१ ॥
इतः पूर्वमतीचारो विद्यते बधकर्मणः ।
सचित्तस्पर्शनत्वाद्वा स्वहस्तेनाम्भसां यथा ॥ ३२ ॥

इतः प्रभृति यद्द्रव्यं सचित्तं सलिलादिवत् ।
न स्पर्शति स्वहस्तेन वह्वारम्भस्य का कथा ॥ ३३ ॥
तिष्ठेत्स्वबन्धुवर्गाणां मध्येप्यन्यतमाश्रितः ।
सिद्धं भक्त्यादि भुञ्जीत यथालब्धं मुनिर्यथा ॥ ३४ ॥
क्वापि केनावहूतस्य बन्धुनाथसधर्मिणा ।
तद्गेहे भुञ्जमानस्य न दोषो न गुणः पुनः ॥ ३५ ॥
किञ्चायं सद्मस्वामित्वे वर्तते व्रतवानपि ।
अर्वागादशमस्थानान्नापरान्नपरायणः ॥ ३६ ॥
प्रक्षालनं च वस्त्राणां प्रासुकेन जलादिना ।
कुर्याद्वा स्वस्य हस्ताभ्यां कारयेद्वा सधर्मिणा ॥ ३७ ॥
बहुप्रलपितेनालमात्मार्थं वा परात्मने ।
यत्रारम्भस्य लेशोस्ति न कुर्यात्तामपिक्रियाम् ॥ ३८ ॥
नवमं प्रतिमास्थानं व्रतं चास्ति गृहाश्रये ।
यत्र स्वर्णादिद्रव्यस्य सर्वतस्त्यजनं स्मृतम् ॥ ३९ ॥
इतः पूर्वं सुवर्णादिसंख्यामात्रापकर्षणः ।
इतप्रभृतिवित्तस्य मूलादुन्मूलनं व्रतम् ॥ ४० ॥
अस्त्यात्मैकशरीरार्थं वस्त्रवेश्मादि स्वीकृतम् ।
धर्मसाधनमात्रं वा शेषं निःशेषणीयताम् ॥ ४१ ॥
स्यात्पुरस्तादितो यावत्स्वामित्वं सद्मयोषिताम् ।
तत्सर्वं सर्वतस्त्याज्यं निःशल्यं जीवनावधि ॥ ४२ ॥
शेषो विधिस्तु सर्वोपि ज्ञातव्यः परमागमात् ।
सानुवृत्तं व्रतं यावत्सर्वत्रैवैष निश्चयः ॥ ४३ ॥
व्रतं दशमस्थानस्थमननुमननाह्वयम् ।
यत्राहारादिनिष्पत्तौ देया नानुमतिः क्वचित् ॥ ४४ ॥
आदेशोनुमतिश्चाज्ञा सैवं कुर्वितिलक्षणा ।
यद्वा स्वतः कृतेनादौ प्रशंसानुमतिः स्मृता ॥ ४५ ॥

अयं भावः स्वतः सिद्धं यथालब्धं समाहरेत् ।
तपश्चेच्छानिरोधाख्यं तस्यैव किल संवरः ॥ ४६ ॥
इदमिदं कुरु मैवेदमित्यादेशं न यच्छति ।
मुनिवत्प्रासुकं शुद्धं यावदन्नादि भोजयेत् ॥ ४७ ॥
गृहे तिष्ठेद् ईतस्थोपि सोयमर्थादपि स्फुटम् ।
शिरः क्षौरादि कुर्याद्वा न कुर्याद्वा यथामतिः ॥ ४८ ॥
अद्य यावद्यथालिङ्गो नापि वेषधरो मनाक् ।
शिखासूत्रादि दध्याद्वा न दध्याद्वा यथेच्छया ॥ ४९ ॥
तिष्ठेद्देवालये यद्वा गेहे सावद्यवर्जिते ।
स्वसम्बन्धिगृहे भुंक्ते यद्वाहूतोन्यसद्मनि ॥ ५० ॥
एवमित्यादिदिग्मात्रं व्याख्यातं दशमव्रतम् ।
पुनरुक्तभयादत्र नोक्तमुक्तं पुनः पुनः ॥ ५१ ॥
व्रतं चैकादशस्थानं नाम्नानुद्दिष्टभोजनम् ।
अर्थादीषन्मुनिस्तद्वान्निर्जराधिपतिः पुनः ॥ ५२ ॥
समुद्दिश्य कृतं यावदन्नपानौषधादि यत् ।
जानन्नेवं न गृह्णीयान्नूनमेकादशव्रती ॥ ५३ ॥
सर्वतोस्य गृहत्यागो विद्यते सन्मुनेरिव ।
तिष्ठेद्देवालये यद्वा वने च मुनिसन्निधौ ॥ ५४ ॥
उत्कृष्टः श्रावको द्वेधा क्षुल्लकश्चैलकस्तथा ।
एकादशव्रतस्थौ द्वौ स्तो द्वौ निर्जरकौ क्रमात् ॥ ५५ ॥

उक्तं च ।

एयारम्मिट्ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो ।
वच्छेयधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो बिदिओ ॥
तत्रैलकः स गृह्णाति वस्त्रं कौपीनमात्रकम् ।
लोचं स्मश्रुशिरोलोम्नां पिच्छिकां च कमण्डलुम् ॥ ५६ ॥
पुस्तकाद्युपधिश्चैव सर्वसाधारणं यथा ।

सूक्ष्मं चापि न गृह्णीयादीषत्सावद्यकारणम् ॥ ५७ ॥
कौपीनोपधिमात्रत्वाद् विना वाचंयमिक्रिया ।
विद्यते चैलकस्यास्य दुर्द्धरं व्रतधारणम् ॥ ५८ ॥
तिष्ठेच्चैत्यालये संघे वने वा मुनिसन्निधौ ।
निरवद्ये यथास्थाने शुद्धे शून्यमठादिषु ॥ ५९ ॥
पूर्वोदितक्रमेणैव कृतकर्मावधावनात् ।
ईषन्मध्याह्नकाले वै भोजनार्थमटेत्पुरे ॥ ६० ॥
ईर्यासमितिसंशुद्धः पर्यटेद्गृहसंख्यया ।
द्वाभ्यां पात्रस्थानीयाभ्यां हस्ताभ्यां परमश्नुयात् ॥ ६१ ॥
दद्याद्धर्मोपदेशं च निर्व्याजं मुक्तिसाधनम् ।
तपो द्वादधा कुर्यात्प्रायश्चित्तादि वाचरेत् ॥ ६२ ॥
क्षुल्लकः कोमलाचारः शिखासूत्राङ्कितो भवेत् ।
एकवस्त्रं सकौपीनं वस्त्रपिच्छकमण्डलुम् ॥ ६३ ॥
भिक्षापात्रं च गृह्णीयात्कांस्यं यद्वाप्ययोमयम् ।
एषणादोषनिर्मुक्तं भिक्षाभोजनमेकशः ॥ ६४ ॥
क्षौरं श्मश्रुशिरोलोम्नां शेषं पूर्ववदाचरेत् ।
अतीचारे समुत्पन्ने प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥ ६५ ॥
यथा निर्दिष्टकाले स भोजनार्थं च पर्यटेत् ।
पात्रे भिक्षां समादाय पञ्चागारादिहालिवत् ॥ ६६ ॥
तत्राप्यन्यतमे गेहे दृष्ट्वा प्रासुकमम्बुकम् ।
क्षणं चातिथिभागाय संप्रेक्ष्याध्वं च भोजयेत् ॥ ६७ ॥
दैवात्पात्रं समासाद्य दद्याद्दानं गृहस्थवत् ।
तच्छेषं यत्स्वयं भुंक्ते नोचेत्कुर्यादुपोषितम् ॥ ६८ ॥
किञ्च गन्धादिद्रव्याणामुपलब्धौ सधर्मिभिः ।
अर्हद्बिम्बादिसाधूनां पूजा कार्या मुदात्मना ॥ ६९ ॥
किञ्चात्र साधकाः केचित्केचिद्गूढाह्वयाः पुनः ।

वाणप्रस्थाख्यकाः केचित्सर्वे तद्वेशधारिणः ॥ ७० ॥
क्षुल्लकीवत्क्रिया तेषां नात्युग्रं नातीव मृदुः ।
मध्यवर्तिव्रतं तद्वत्पञ्च गुर्वात्मसाक्षिकम् ॥ ७१ ॥
अस्ति कश्चिद्विशेषोत्र साधकादिषु कारणात् ।
अगृहीतव्रताः कुर्युर्व्रताभ्यासं व्रताशयाः ॥ ७२ ॥
समभ्यस्तव्रताः केचिद् व्रतं गृह्णन्ति साहसात् ।
न गृह्णन्ति व्रतं केचिद् गृहे गच्छन्ति कातराः ॥ ७३ ॥
एवमित्यादि दिग्मात्रं मया प्रोक्तं गृहिव्रतम् ।
दृगाद्येकादशं यावत् शेषं ज्ञेयं जिनागमात् ॥ ७४ ॥
अस्त्युत्तरगुणं नाम्नां तपो द्वादशधा मतम् ।
सूचीमात्रं प्रवक्ष्यामि देशतो व्रतधारिणाम् ॥ ७५ ॥

तत्सूत्रं यथा—अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्याग विविक्तशय्यासन कायक्लेशा बाह्यं तपः ।

खाद्यादिचतुर्द्धाहारसन्यासोऽनशनं मतम् ।
केवलं भक्तसलिलमवमोदर्यमुच्यते ॥ ७६ ॥
त्रिचतुःपञ्चषष्ठादिवस्तूनां संख्ययाऽशनम् ।
सद्मादिसंख्यया यद्वा वृत्तिसंख्या प्रचक्ष्यते ॥ ७७ ॥
मधुरादिरसानां यत्समस्तं व्यस्तमेव वा ।
परित्यागो यथाशक्ति रसत्यागः स लक्ष्यते ॥ ७८ ॥
एकान्ते विजनस्थाने सरागादिदोषोज्झिते ।
शय्या यद्वासनं भिन्नं शय्यासनमुदीरितम् ॥ ७९ ॥
आतापनादियोगेन वीर्यचर्यासनेन वा ।
वपुषः क्लेशकरणं कायक्लेशः प्रकीर्तितः ॥ ८० ॥
षोढा वाह्यं तपः प्रोक्तमेवमित्यादिलक्षणैः ।
अधुना लक्ष्यतेऽस्माभिःषोढा वाभ्यन्तरं तपः ॥ ८१ ॥

तत्सूत्रं यथा—प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्यु-त्तरम् ।

प्रायो दोषेऽप्यतीचारे गुरौ सम्यग्निवेदिते ।
उद्दिष्टं तेन कर्तव्यं प्रायश्चित्तं तपः स्मृतम् ॥ ८२ ॥
गुर्वादीनां यथाप्येषामभ्युत्थानं च गौरवम् ।
क्रियते चात्मसामर्थ्याद्विनयाख्यं तपः स्मृतम् ॥ ८३ ॥
तपोधनानां दैवाद्वा ग्लानित्वं समुपेयुषाम् ।
यथाशक्ति प्रतीकारो वैयावृत्यः स उच्यते ॥ ८४ ॥
नैरन्तर्येण यः पाठः क्रियते सूरिसन्निधौ ।
यद्वा सामायिकी पाठः स्वाध्यायः स स्मृतो बुधैः ॥ ८५ ॥
शरीरादिममत्वस्य त्यागो यो ज्ञानदृष्टिभिः ।
तपःसंज्ञः सुविख्यातो कायोत्सर्गो महर्षभिः ॥ ८६ ॥
कृत्स्नचिन्तानिरोधेन पुंसःशुद्धस्य चिन्तनम् ।
एकाग्रलक्षणं ध्यानं तदुक्तं परमं तपः ॥ ८७ ॥
एवमित्यादिदिग्मात्रं षोढा चाभ्यन्तरं तपः ।
निर्दिष्टं कृपयाऽस्माभिर्देशतो व्रतधारिणाम् ॥ ८८ ॥

अक्षरमात्रपदस्वरहीनं
व्यञ्जनसन्धिविवर्जितरेफम् ।
साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं
को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ॥ ८९ ॥

इति श्रीस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारद विद्वन्मणिराजमल्ल-विरचितायां श्रावकाचारापरनाम लाटीसंहितायां साधु-श्रीदूदात्मजफामनमनःसरोजारविन्दविकाशनमार्त-ण्डमण्डलायमानायां सामायिकप्रतिमाद्येकादश-प्रतिमापर्यन्तवर्णनं नाम सप्तमः सर्गः ।

ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः ।

सामायिकाद्यनुद्दिष्टपर्यन्तं प्रतिमाव्रतम् ।
साधुदूदाङ्गजोद्दामफामनाय श्रियं दिशेत ॥

इत्याशीर्वादः ।

किमिदमिह किलास्ते नाम सम्वत्सरादि,
नरपति रपि कःस्यादत्र साम्राज्यकल्पः ।
कृतमपि कमिदं भो केन कारापितं यत्,
शृणु तदिति वदद्भिः स्तूयतेऽद्य प्रशस्तिः ॥ १ ॥
(श्री)नृपतिविक्रमादित्यराज्ये परिणते सति ।
सहैकचत्वारिंशद्भिरब्दानां शतषोडश ॥ २ ॥
तत्रापि चाश्विनीमासे सितपक्षे शुभान्विते ।
दशम्यां च दाशरथे शोभने रविवासरे ॥ ३ ॥
अस्ति साम्राज्यतुल्योसौ भूपतिश्चाप्यकब्बरः ।
महद्भिर्मण्डलेशैश्च चुम्बितांह्रिपदाम्बुजः ॥ ४ ॥
अस्ति दैगम्बरो धर्मो जैनः शर्म्मैककारणम् ।
तत्रास्ति काष्ठासंघश्च क्षालितांहःकदम्बकः ॥ ५ ॥
तत्रापि माथुरो गच्छो गणः पुष्करसंज्ञकः ।
लोहाचार्यान्वयस्तत्र तत्परंपरया यथा ॥ ६ ॥
नाम्ना कुमारसेनोऽभूद्भट्टारकपदाधिपः ।
तत्पट्टे हेमचन्द्रोऽभूद्भट्टारकशिरोमणिः ॥ ७ ॥
तत्पट्टे पद्मनन्दी च भट्टारकनभोंशुमान् ।
तत्पट्टेऽभूद्भट्टारको यशस्कीर्तिस्तपोनिधिः ॥ ८ ॥
तत्पट्टे क्षेमकीर्तिः स्यादद्य भट्टारकाग्रणी ।
तदाम्नाये सुविख्यातं पत्तनं नाम डौकनि ॥ ९ ॥
तत्रत्यः श्रावको भारु भार्यास्तिस्त्रोऽस्य धार्मिकाः ।
कुलशीलवयोरूप धर्मबुद्धिसमन्विताः ॥ १० ॥

नाम्ना तत्रादिमा मेघी द्वितीया नाम रूपिणी ।
रत्नगर्भा धरित्रीव तृतीया नाम देविंला ॥ ११ ॥
योषितो देविलाख्यायाः पुंसो भारूसमाह्वयात् ।
चत्वारस्तत्समाः पुत्राः समुत्पन्नाः क्रमादिह ॥ १२ ॥
तत्रादिमः सुतो दूदो द्वितीयः ठुकराह्वयः ।
तृतीयो जगसी नाम्ना तिलोकोऽभच्चतुर्थकः ॥ १३ ॥
दूदाभार्या कुलांगासी नाम्ना ख्याता उवारही ।
तयोः पुत्रास्त्रयः साक्षादुत्पन्नाः कुलदीपकाः ॥ १४ ॥
आद्यो न्योता द्वितीयस्तु भोल्हा नाम्नाथ फामनः ।
न्योता संघाधिनाथस्य द्वे भार्ये शुद्धवंशजे ॥ १५ ॥
आद्या नाम्ना हि पद्माही गौराही द्वितीया मता ।
पद्माहीयोषितस्तत्र न्योतसंघाधिनाथतः ॥ १६ ॥
पुत्रश्च देईदासः स्यादेकोपि लक्षायते ।
गौराहीयोषितः पुत्राश्चत्वारो मदनोपमाः ॥ १७ ॥
न्योतासंघाधिनाथस्य स्ववंशावनिचक्रिणः ।
तत्राद्योऽङ्गजो गोपा हि सामा पुत्रो द्वितीयकः ॥ १८ ॥
तृतीयो घनमल्लोस्ति ततस्तुर्यो नरायणः ।
भार्या देईदासस्य रामूही प्रथमा मता ॥ १९ ॥
कामूही द्वितीया ज्ञेया भर्तुश्च्छन्दानुगामिनी ।
रामूहीयोषितः पुत्रा देईदासस्य सद्मनि ॥ २० ॥
प्रथमाश्चाख्यया साधू द्वितीयो हरदासकः ।
ताराचन्द्रः तृतीयः स्याच्चतुर्थस्तेजपालकः ॥ २१ ॥
पञ्चमो रामचन्द्रश्च पञ्चापि पाण्डवोपमाः ।
साधूभार्या मथुरी च या गङ्गा शुद्धवंशजा ॥ २२ ॥

---

१ ' ख ' पुस्तके ' देवला ' इतिपाठः ।

गोपाभार्या समाख्याता अजवा शुद्धवंशजा ।
सामाभार्या च पूरी स्याल्लावण्यादिगुणान्विता ॥ २३ ॥
घनमल्लस्य भार्या स्याद्विख्याता हि उद्धरही ।
भोल्हासंघाधिनाथस्य भार्यास्तिस्रः कुलांगनाः ॥ २४ ॥
छाजाही योषितः पुत्राः पञ्च प्रोच्चण्डविक्रमाः ।
प्रथमो बालचन्द्रः स्याल्लालचन्द्रो द्वितीयकः ॥ २५ ॥
तृतीयो निहालचन्द्रश्चतुर्थो गणेशाह्वयः ।
कनिष्ठोपि गुणोत्कृष्टः पञ्चमस्तु नरायणः ॥ २६ ॥
एते पञ्चापि पुत्राश्च जैनधर्मपरापणाः ।
वीधूहीयोषितः पुत्रौ जानकीयसुतोपमौ ॥ २७ ॥
भोल्हासंघाधिनाथस्य वणिजां चक्रवर्तिनः ।
प्रथमको[1] हरदासः कृष्णराजबलोपमः ॥ २८ ॥
द्वितीयो भावनादासः शत्रुकाष्ठदवानलः ।
बालचन्द्रस्य सद्भार्या करमाया स्यात्कुलांगना ॥ २९ ॥
लालचन्द्रभार्या गोमा धर्मपत्नी पतिव्रता ।
निहालचन्द्रस्य भार्ये वंश्या नाम्ना च वीरणी ॥ ३० ॥
गणेशाख्यास्य सद्भार्या साध्वी नाम्ना सहोदरा ।
कामनसंघनाथस्य भार्ये द्वे शुद्धवंशजे ॥ ३१ ॥
आद्या डूगरही ख्याता नाम्ना गंगा द्वितीयका ।
डूँगरही भार्यायाः द्वौ पुत्रौ हि चिरजीविनौ ॥ ३२ ॥
रूडा स्यादादिमो नाम्ना माईदासो द्वितीयकः ।
गंगायाः योषितः पुत्रो मुख्यः कौजूसमाह्वयः ॥ ३३ ॥
रूडाभार्या च दूलाही तयोः पुत्रौ च द्वौ स्मृतौ ।
प्रथमो भीवसी नाम्ना रायँदासो[2] द्वितीयकः ॥
स्ववंशगगने भूम्नि पुष्यदन्ताविवास्थितौ ॥ ३४ ॥

---

१ 'ख' पुस्तके 'प्रथमः कन्हरदासः' इतिपाठः । २ ख पुस्तके "राघौ-दासो" इतिपाठः ।

ज्झारू द्वितीयपुत्रस्य कउुराख्यस्य धर्मिणः ।
भार्या तिहुणाहि नाम्ना नाथू नाम सुतस्तयोः ॥ ३५ ॥
नाथूभार्या चिताल्ही स्यात्पुत्रो रूढा तयोर्द्वयोः ।
ज्झारू चतुर्थपुत्रस्य भार्या चुंही समाख्यया ॥ ३६ ॥
तयोः पुत्रस्तु गांगू स्यादात्मवंशावतंसकः ।
एते सर्वेपि जैनाः स्युः कीर्त्या संघेश्वराः स्मृताः ॥ ३७ ॥
एतेषामस्तिमध्ये गृहवृषरुचिमान् फामनः संघनाथ
स्तेनोच्चैः कारितेयं सदनसमुचिता संहिता नाम लाटी ।
श्रेयोर्थं फामनीयैः प्रमुदितमनसा दानमानासनाद्यैः
स्वोपज्ञाराजमल्लेन विदितविदुषा मापिना हैमचन्द्रे ॥ ३८ ॥

इतिश्रीवंशस्थितिवर्णनम् ।

यावद्व्योमापगाम्भो नभसि परिगतौ पुष्पदन्तौ दिवीशौ
यावत्क्षेत्रे त्र दिव्या प्रभवति भरतो भारती भारतेस्मिन् ।
तावत्सिद्धान्तमेतज्जयतु जिनयतेराज्ञया ख्यातलक्ष्म
तावत्त्वं फामनाख्यः श्रियमुपलभतां जैनसंघाधिनाथः ॥ ३९ ॥

इत्याशीर्वादः ।

यावन्मेरुर्धरापीठे यावच्चंद्रदिवाकरौ ।
वाच्यमानं बुधैस्तावच्चिरं नन्दतु पुस्तकम् ॥ ४० ॥

---

२ ‘ म्रापिना ’ अथवा ‘ म्रायिना ’ इति ख पुस्तके ।

ग्रन्थकर्त्तुः वंशावृक्षः ।

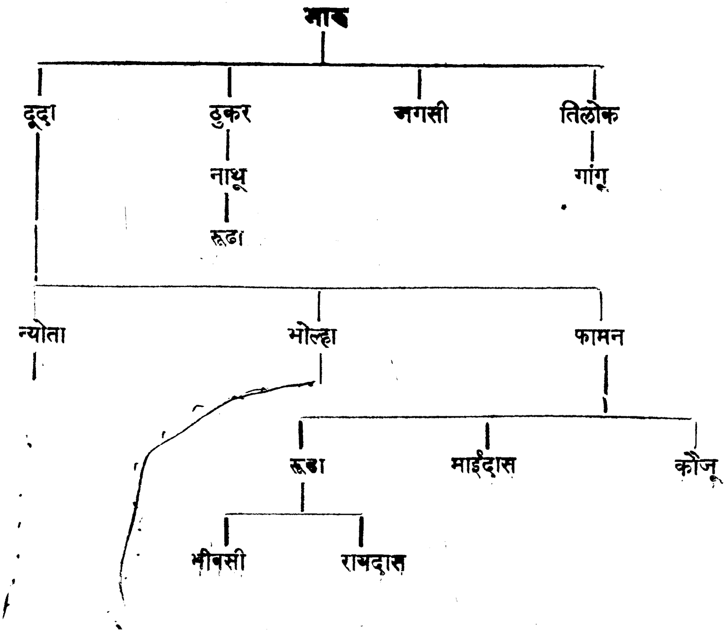
माढ
दूदा
ठुकर
जगसी
तिलोक
नाथू
गांगू
रूढा
न्योता
भोल्हा
फामन
रूडा
माईदास
कौजू
भीवसी
रायदास

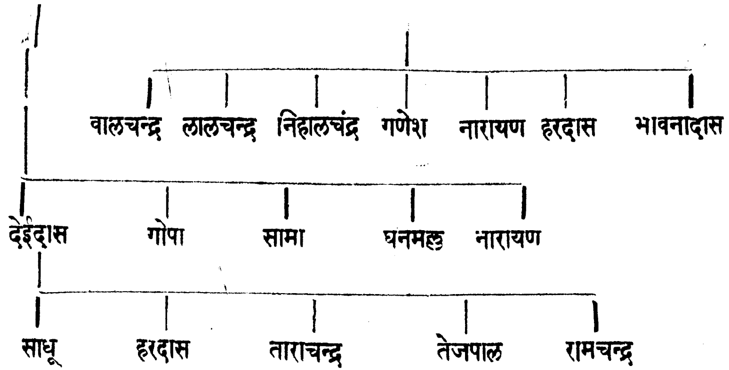
वालचन्द्र
लालचन्द्र
निहालचंद्र
गणेश
नारायण
हरदास
भावनादास
देईदास
गोपा
सामा
घनमल्ल
नारायण
साधू
हरदास
ताराचन्द्र
तेजपाल
रामचन्द्र

पूर्व प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची

[प्रत्येक ग्रन्थ लागत मात्र मूल्य पर बेचा जाता है ।]

१ लघीयस्त्रयादिसंग्रह (न्याय) ।-)
२ सागारधर्मामृत ।≡)
३ विक्रान्त कौरवीय (नाटक) ।=)
४ पार्श्वनाथचरित (काव्य) ॥)
५ मैथिली-कल्याण (नाटक) ।)
६ आराधनासार ।)॥
७ जिनदत्तचरित (काव्य) ।)॥
८ प्रद्युम्नचरित ,, ॥)
९ चारित्रसार ।=)
१० प्रमाणनिर्णय (न्याय) ।-)
११ आचारसार ।=)
१२ त्रिलोकसार सटीक १॥)
१३ तत्त्वानुशासनादिसंग्रह ॥=)
१४ अनगारधर्मामृत ३॥)
१५ युक्त्यनुशासन (न्याय) ॥-)
१६ नयचक्रसंग्रह ॥≡)
१७ षट्प्राभृतादिसंग्रह)
१८ प्रायश्चित्तसंग्रह १=)
१९ मूलाचार सटीक (पूर्वार्ध) २॥)
२० भावसंग्रहादि २।)
२१ सिद्धान्तसारादिसंग्रह १॥)
२२ नीतिवाक्यामृत १॥।)
२३ मूलाचार सटीक (उत्तरार्ध) १॥)
२४ रत्नकरण्ड सटीक १॥)
२५ पंचसंग्रह ॥।)
२६ लाटीसंहिता ॥)
२७ पुरुदेवचम्पू
२८ प्राचीन शिलालेखसंग्रह

नोट—आगे और बड़े बड़े महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंके छपानेका प्रबन्ध हो रहा है । प्रत्येक जैनीको इसके ग्रन्थ मँगाकर सहायता करनी चाहिए । १००) सौ रुपया देकर सहायता देनेवालोंको सब ग्रन्थ भेट भेजे जाते हैं ।

निवेदक—

नाथूराम प्रेमी, मंत्री,

हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई ।